

श्रद्धांजलि  
संस्मरण

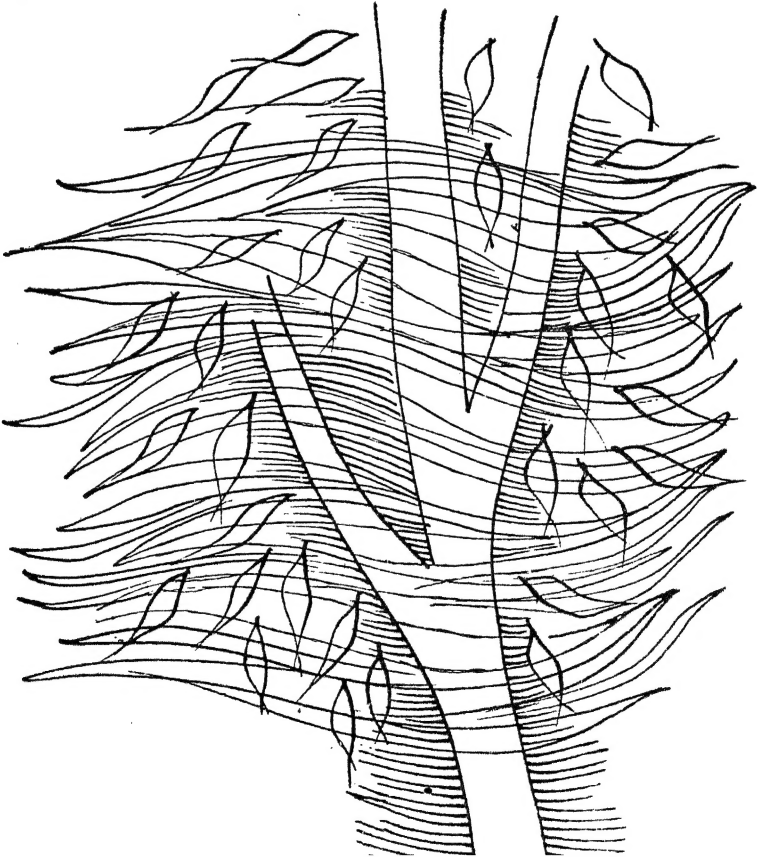


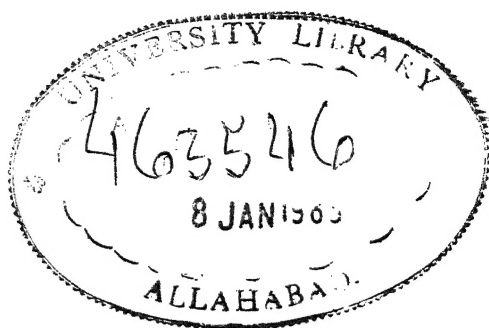
साकेत प्रकाशन, चिरगांव, झांसी

: श्रीराम :

# अद्भुतजालि संस्मरण

मैथिलीशरण गुप्त





प्रकाशक :

साकेत प्रकाशन,  
राष्ट्रकवि निवास,  
चिरगांव, झांसी

●

प्रथम साकेत प्रकाशन  
संस्करण १९७६

● मूल्य : सोलह रुपये

सर्वाधिकार  
अभिलाचरण गुप्त

●

एकमात्र वितरक  
के० एल० मलिक एंड संस प्रा० लि०  
२३, दरियागंज, नयी दिल्ली-११०००२

●

सरस्वती प्रिंटिंग प्रेस  
मोजपुर, दिल्ली द्वारा मुद्रित

●

: श्रीराम: :

## प्रकाशकीय वक्तव्य

प्रिय पाठकगण,

आपका स्नेह, सहानुभूति और सहयोग मेरे साथ हैं। इसी आशा से मैंने अपने पूज्य पिताजी स्वर्गीय राष्ट्रकवि मैथिलीशरण जी गुप्त को प्रसिद्ध कृति 'साकेत' के नाम पर 'साकेत प्रकाशन' का श्रीगणेश करने का साहस किया है।

इस योजना का प्रारम्भ पूज्य पिताजी की प्रकाशित रचनाओं से किया जा रहा है। शीघ्र ही उनकी अमुद्रित कृतियों को भी सुधी पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करने का उपक्रम कर रहा हूँ। साथ ही 'मैथिलीशरण गुप्त ग्रन्थावली' के प्रकाशन के लिए भी प्रयत्नशील हूँ।

हिन्दी संसार को यह विदित ही है कि सन् १९६४ में पूज्य ददा के साकेतवासी होने के बाद से ही मैं आज तक संघर्षों, कष्टों और अभावों से जूझता रहा हूँ। ऐसे समय में आपका आशीर्वाद ही मेरा सम्बल रहा है। पूज्य ददा के शब्दों में मैं तो मात्र यही निवेदन कर सकता हूँ :

सदय हृदय आत्मीय जनों से कितना कौन दुराव,  
स्नेह-लेप ही क्या न पायेंगे तेरे उर के धाव।

मुझे इस बात का सन्तोष है कि मैं अपनी वृद्धा माँ के सामने ही पूज्य ददा की चिर स्मृति में यह प्रकाशन इस विश्वास और आस्था के साथ कर रहा हूँ कि :—

जैसे बीते काल, बिता देना ही होगा,  
जो कुछ देगा दैव, हमें लेना ही होगा।

बिनम्र

ऊर्मिलाचरण गुप्त  
निवास राष्ट्रकवि  
चिरगाँव

## निवेदन

प्रस्तुत रचना में सात श्रद्धांजलि-संस्मरण संकलित हैं । अपनी जीवन-यात्रा के अंतिम चरण में, जब कभी अवकाश मिलता, राष्ट्रकवि मैथिली-शरण गुप्त बड़े ही मनोयोग के साथ संस्मरण लिखना शुरू कर देते थे । मेरा अनुमान है कि प्रत्येक साहित्यकार, चाहे वह सर्जक कलाकार हो या चिंतनशील आलोचक, जीवन में अपने या दूसरों के थोड़े-बहुत संस्मरण अवश्य लिखता है । उसके व्यक्तित्व का शुद्ध मानव-पक्ष इसके लिए उसे प्रायः बाध्य कर देता है, और चूंकि इस प्रकार की रचनाओं में बुद्धि तथा कल्पना को उतना आयास नहीं करना पड़ता, इसलिए लेखक को थोड़ा विश्राम भी मिल जाता है । जिन व्यक्तियों या घटनाओं ने हमें जीवन में प्रभावित किया है उनके भावात्मक ऋण से मुक्ति पाने का वास्तव में यही उपाय है ।

हिंदी-काव्य के क्षेत्र में गुप्तजी अपने युग के सर्वश्रेष्ठ कथाशिल्पी भी थे । उनकी दृष्टि सामान्य से सामान्य घटनाओं में निहित मार्मिक तत्त्व का अनायास ही संधान कर लेती थी । उनके भीतर का मानव अपने किसी भी प्रतिरूप को मेंटने के लिए अत्यंत सहज भाव से ललक उठता था । मानव-प्राणी की संघवृत्ति या संगवृत्ति की ऐसी प्रबल और अतर्क्य अभिव्यक्ति कम ही देखने में आती है । बड़ी जल्दी और अलक्ष्यक्रम से प्रत्येक परिचित व्यक्ति उनके परिवार का अंग बन जाता था । इस आत्मीय भावना में अपनी और आत्मीय व्यक्ति अथवा विभिन्न व्यक्तियों की आपस की छोटाई-बड़ाई के माप के लिए अवकाश नहीं रहता था । 'श्रद्धांजलि-संस्मरण' में जिन दिवंगत बंधुओं के शब्द-चित्र कवि ने अंकित किए हैं, स्वभावतः उनके व्यक्तित्व का राजनीतिक एवं साहित्यिक स्तर समान नहीं था । लेकिन गुप्तजी के लिए इस अंतर की कोई सार्थकता नहीं है । सभी चित्रों में व्याप्त कवि के आत्मीय भाव में यह विभेद सहज

ही विगलित हो जाता है। डा० राजेन्द्रप्रसाद के व्यक्तित्व के प्रति उनके मन में बड़ी श्रद्धा थी। पर राष्ट्रपति-भवन में वे उनके ठीक बराबर उसी तरह बैठ जाते थे जैसे चिरगांव की 'बखरी' में मुंशी अजमेरी के साथ बैठते थे। पंडित जवाहरलाल नेहरू के तेजस्वी व्यक्तित्व के प्रति उनके मन में एक आनंदपूर्ण सम्भ्रम का भाव था, किंतु उनका अभिमानी कवि झुककर बात करना नहीं जानता था। सहज विनय और शील की रक्षा करते हुए वे उनके कंधे पर हाथ रखकर उसी तरह बात करते थे जैसे कि अपने अनुज-कल्प श्री बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' के साथ।

काव्य के क्षेत्र में गुप्तजी की भाषा का मुख्य गुण है उसका सहज और स्वच्छ रूप। भाषा का यह सहज गुण इन संस्मरणों में और भी अधिक उजागर हो गया है। उनकी भाषा जैसे वर्ण्य विषय में ही अंतर्भुक्त हो गई है।—कथन-भंगिमा का कथ्य में पूर्ण अंतर्भाव इन शब्द-चित्रों की भाषा की विशेषता है।

लंबे अंतराल के बाद मैथिलीशरण गुप्त की नवीन कृति, जिसकी विषयवस्तु और विधा दोनों ही नई हैं, पाठकों के सामने प्रस्तुत करने में हम एक प्रकार के सुखद गर्व का अनुभव कर रहे हैं। हमें विश्वास है कि गुप्तजी के काव्य के प्रेमी पाठक इन स्मृति-चित्रों में उनके अंतरंग मानव-रूप का साक्षात्कार कर एक नवीन रस का अनुभव करेंगे।

मैथिलीशरण गुप्त जन्मदिवस १९७९

श्रीराम

## भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

हरिश्चन्द्र को जो हिंदी का जन्मदाता कहा जाता है, सो यथार्थ ही । यह बात नहीं कि उस समय हिंदी का अस्तित्व नहीं था । हरिश्चन्द्र ने उसे नया जीवन दिया और उसमें समय के अनुरूप नये-नये भाव भर कर उसे नयी शक्ति प्रदान की । वे न होते तो हिंदी आज अपने वर्तमान रूप में विकसित हो पाती वा नहीं, अथवा उसको कितनी बाधाओं का सामना करना पड़ता, नहीं कहा जा सकता । आज भी उसे थोड़ा संघर्ष करना पड़ रहा है । हरिश्चन्द्र ने अपना कार्य न किया होता तो हमारी राष्ट्रभाषा अपने पद पर प्रतिष्ठित होने में निस्संदेह पिछड़ जाती और उसके मार्ग की बाधाएं और भी प्रबल हो जातीं ।

उस समय राजकाज में हमारे लिए जिस भाषा का प्रयोग होता था उसके शब्द ही नहीं संस्कार भी विदेशी थे । साधारण जनता को उसे समझने के लिए गिने-चुने लोगों का मुंह ताकना पड़ता था । ऐसी भाषा से किसका काम चल सकता है । परंतु सैकड़ों वर्षों की पराधीनता ने हमें आत्म-ग्लानि से भर दिया था । हम पराजित थे और हमें अपना सब कुछ तुच्छ दिखाई पड़ता था ।

परंतु किसी भिन्न भाषा के द्वारा इसका निराकरण नहीं किया जा सकता था । अपनी भाषा के द्वारा ही हमें अपने विस्मृत रूप का ज्ञान हो सकता था और वही हममें स्वाभिमान जगा सकती थी । हरिश्चन्द्र ने इसे समझा और हिंदी पर अपना सब कुछ निछावर कर दिया । उनका जन्म सार्थक हुआ ।



## श्रद्धांजलि-संस्मरण

हमारे पद्य की भाषाएं ब्रज और अवधी पर्याप्त पुष्ट थीं परंतु अब उनके विषयों में नवीनता न रह गई थी। और गद्य की गति तो मौखिक वार्तालाप तक ही सीमित थी। नये-नये विषयों के लिए समय गद्य की मांग कर रहा था। केवल पद्य लेकर हम ज्ञान के क्षेत्र में आगे नहीं बढ़ सकते थे। अधिकारियों के प्रयत्न से दो-चार पुस्तकें गद्य में निकलीं। परंतु यह प्रयत्न वस्तुतः हमारी अपेक्षा स्वयं उन्हीं की सुविधा के लिए कहा जा सकता है। अंततः विजेताओं को भी विजितों की भाषा का थोड़ा बहुत ज्ञान आवश्यक होता है। यह दूसरी बात है, हमें भी उससे कुछ लाभ हो जाये। इसी कुछ को बढ़ा कर सब कुछ बना देने का प्रारंभिक कार्य हरिश्चन्द्र ने किया।

उनका जन्म संवत् १९०७ की ऋषि पंचमी के दिन काशी के एक संपन्न अग्रवाल कुल में हुआ। भारतीय इतिहास का साधारण विद्यार्थी भी सेठ अमीचंद का नाम जानता है जिन्होंने क्लाइव से साठगांठ करके अंग्रेजी राज्य की जड़ जमाने में उसकी सहायता की थी। परंतु जिन्हें पुरस्कार के समय वंचित होकर निराश होना पड़ा था। इस अपमानपूर्ण निराशा से उनका पागल हो जाना आश्चर्य की बात नहीं, थोड़े ही दिनों में उनकी मृत्यु भी हो गई। उनके पुत्र फतेहचन्द बंगाल छोड़ कर काशी में आ बसे। इन्हीं के प्रपौत्र हरिश्चन्द्र थे। उनके पिता का नाम गोपालचन्द्र था। यह कुटुंब पहले ही यथेष्ट संपत्तिशाली था। अपने संबंधियों के उत्तराधिकार से और भी संपन्न हो गया। काशी के अग्रवाल समाज ने अपना चौधरी बना कर इसे यथेष्ट मान्यता दी। विवाहादि कार्यों में जो बंटनी बांटी जाती है उसमें चौधरी का भाग और सबकी अपेक्षा दुगुना होता है। थोड़े दिन हुए, इस कुल के प्रधान पुरुष डाक्टर मोतीचन्द्र ने चौधरी पद का परित्याग कर दिया है।

हरिश्चन्द्र को वह सब प्राप्त था जो मध्यकालीन परंपरा के किसी श्रीमान को प्राप्त हो सकता था अर्थात् भोग-विलास की सब सामग्री और सुविधा एवं राजा-प्रजा में सम्मान। परंतु उनसे भारत की दुर्दशा चुपचाप नहीं देखी गई। जैसा उन्होंने स्वयं कहा है—

हा हा भारत दुर्दशा न देखी जाई।

उनके पिता पक्षके वैष्णव और अच्छे कवि भी थे। अल्पायु में ही महा-प्रस्थान कर गये। इसी बीच उन्होंने अनेक ग्रंथों की रचना की। जिनमें 'जरासंध-वध' महाकाव्य भी है। जो पूरा न हो सका फिर भी महत्त्वपूर्ण, और उनकी कवित्त शक्ति का अच्छा परिचय देता है। उनके एक पद की तीन पंक्तियाँ मुझे स्मरण आ रही हैं—

जाग गया फिर सोना क्या रे  
दाता जो मुँह माँगा देवे फिर चाँदी औ सोना क्या रे  
गिरधरदास उदर पूरे पर मीठा और सलोना क्या रे।

गिरधरदास उनका उपनाम था।

कहने की आवश्यकता नहीं हरिश्चन्द्र योग्य पिता के सुयोग्य पुत्र थे। उनमें जन्मजात प्रतिभा थी। बचपन में ही उन्होंने उसका परिचय देकर पिता को आनंद दिया था और भविष्य की सफलता के लिए उनसे आशीर्वाद प्राप्त किया था। उनकी शिक्षा के संबंध में यही कहा जा सकता है कि कुछ दिन स्कूल में वे अवश्य गये परंतु उन्होंने जो कुछ विद्यार्जन किया वह घर पर ही अपने परिश्रम से। वे अनेक भाषाएं जानते थे। उनकी दीक्षा कुल के अनुसार वल्लभ संप्रदाय में हुई थी। सब धर्मों में आदर बुद्धि रखते हुए भी वे अनन्य वैष्णव थे। तुलसीदास ने अपनी अनन्यता इस प्रकार प्रकट की है—

बने सु रघुवर सौं बने कै बिगरै भरपूर  
तुलसी बने जु और सौं ता बनिबे में धूर।

हरिश्चन्द्र ने भी अपनी अनन्यता इस प्रकार प्रकट की है—

भजौं तो गुपाल ही कौं सेवों तो गुपाले एक  
मेरो मन लाग्यो सब भाँति नन्दलाल सौं।  
मेरे देव देवी गुरु माता-पिता बन्धु इष्ट  
मित्र सखा हरी नातौ एक गोपाल सौं।

हरी चंद और सौ न संबंध कछु  
 आसरो सदैव एक लोचन विशाल को ।  
 मानो तो गुपाल सौ न मानो तो गुपाल ही सौ  
 रीझो तो गुपाल सौ न रीझो तो गुपाल सौ ॥

वे थे 'सखा प्यारे कृष्ण के गुलाम राधारानी के' । इसके साथ ही उन्होंने कहा है—

सीधेन सौ सीधे महा बाँके हम बाँकेन सौ ।  
 हरीचंद नगद दमाद अभिमानी के ।

हिंदी के उत्थान के लिए उन्होंने क्या नहीं किया । उनका मत था—

निज भाषा उन्नति अहै सब उन्नति को मूल

तभी उन्होंने उसके लिए अपना सर्वस्व समर्पित कर दिया । केवल पद्य-रचनाओं से संतोष न करके गद्य में अनेक विषयों पर लिखा और पथ-प्रदर्शन का कार्य किया । नाटक, प्रहसन, आख्यान, जीवन-चरित और यात्रा-वर्णन आदि पर अबाध रूप से उनकी लेखनी चलती रही 'कवि वचनसुधा' और 'हरिश्चन्द्र चंद्रिका' जैसे पत्र उन्होंने चलाये । फलतः 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' के अस्त होने के पश्चात् आधी शती भी नहीं बीतने पाई और हिंदी में 'सरस्वती' का आविर्भाव हुआ एवं आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी जैसे संपादक कार्य-क्षेत्र में अवतीर्ण हुए । नागरी प्रचारिणी सभा की काशी में स्थापना हुई और नित्य नयी-नयी पुस्तकें प्रकाशित होने लगीं । हिंदी का प्रदीप पहले ही जगमगाने लगा था । स्वर्गीय राधाकृष्णदास, अम्बिकादत्त व्यास, चौधरी प्रेमघन, प्रतापनारायण मिश्र और गोस्वामी राधाचरण आदि उनके सहयोगी थे । बंकिमचन्द्र चटर्जी के समान अनेक बंगीय मनीषियों से भी उनका अच्छा परिचय था ।

राजा शिवप्रसाद उनके गुरुजन थे । परंतु हिंदी के रूप के विषय में हरिश्चन्द्र का और उनका मतभेद हुआ । राजा शिवप्रसाद जो भाषा लिखते थे वह उर्दू-बहुल होती थी । हरिश्चन्द्र उर्दू के प्रेमी ही नहीं, लेखक भी थे परंतु हिंदी

का स्वतंत्र अस्तित्व मिटा कर वे उर्दू को हिंदी नहीं मान सकते थे । दूसरे राजा लक्ष्मणसिंह की हिंदी अवश्य उनके अनुकूल थी ।

राजा शिवप्रसाद जहां 'सितारे हिंद' थे वहां जनता ने हरिश्चन्द्र को 'भारतेन्दु' का पद प्रदान किया । हरिश्चन्द्र के सामाजिक विचार बड़े उदार थे । स्त्री-शिक्षा और विदेश-यात्रा का उस समय उन्होंने समर्थन किया था, जब चर्चा से भी पाप लगता था । हरिश्चन्द्र ने अपनी एकमात्र कन्या को पाठशाला में भर्ती करा दिया था । स्त्री-शिक्षा संबंधिनी 'बाल-बोधिनी' नाम की पत्रिका भी निकाली थी । कलकत्ते में उन दिनों कोई बंगाली लड़की उच्च शिक्षा में उत्तीर्ण हुई थी । हरिश्चन्द्र ने एक बहुमूल्य बनारसी साड़ी उसे पुरस्कार में देने के लिए भेजी थी । तत्कालीन बंगाल के लार्ड की पत्नी लेडी बेथून ने वह पुरस्कार देते हुए हरिश्चन्द्र की दूरदर्शिता की सराहना की थी । वे चाहते थे—

नारि-नर सम होहिं जग आनंद लहै ।

विदेश-यात्रा के समर्थन में उनकी निम्न पंक्तियां ही पर्याप्त हैं—

रोक विलायत गमन कूप मंडूक बनायो ।

हरिश्चन्द्र की देशभक्ति का कहना ही क्या । अधिकारियों के कृपा-कोप की अपेक्षा न करते हुए हरिश्चन्द्र अपने पथ पर चलते रहे । उनकी कामना थी—

स्वतः निज भारत गहे सब दुख बहे ।

अंग्रेजों के संबंध में उनकी एक मुकरनी सुनिए—

भीतर भीतर सब रस चूसे  
बाहर से तन मन धन मूसे  
जाहर बातन में अति तेज  
क्यों सखि, साजन? नहिं अंगरेज ।

## श्रद्धांजलि-संस्मरण

अधिकारियों का क्षोभ स्वाभाविक था। तथापि देश के अनेक राजा-महाराजा भारतेन्दु का बड़ा सम्मान करते थे। उनके कार्यों के लिए धन भी देते थे। भोपाल की बेगम साहब से भी उनका पत्र-व्यवहार होता था। मेवाड़ के महाराणा सज्जन सिंह ने हरिश्चन्द्र के गुणों पर रीझ कर उन्हें लिखा था, आप इस राज्य को अपनी ही सीर समझिए।

हरिश्चन्द्र ने कितने गुणी जनों की सहायता की इसका लेखा कठिन है।

उनकी असंयत उदारता देख कर एक बार काशिराज ने प्यार से उनसे कहा, “बबुआ, घर देख कर चलना चाहिए।” इसके उत्तर में हरिश्चन्द्र ने कहा, “महाराज, इस संपत्ति ने मेरी अनेक पीढ़ियां समाप्त कर दी हैं, मैं इसे समाप्त कर दूंगा।” हुआ भी ऐसा ही।

कहते हैं पन्ना के राजा अमानसिंह बड़े दानी थे। एक बार उनकी माता ने उनसे प्रश्न किया, “बेटा, तुझे सोने का मुमेरु मिल जाये तो तू उसे कितने दिनों में समाप्त कर दे?” बेटे ने कहा, “माता, यह उसे ढोने वाले जानें, मैं तो उसे एक ही बार में दे दूंगा।”

हरिश्चन्द्र एक बार कहीं जा रहे थे। मार्ग में किसी को जाड़े से कांपते देख कर अपना दुशाला उसे उढ़ा कर स्वयं ठिठुरते हुए घर आये।

एक बार वे अपने गोस्वामी जी से मिलने गये। उनके गले में सुन्दर मोतियों की माला देखकर गोस्वामी जी ने उसकी प्रशंसा की। हरिश्चन्द्र ने तुरंत उतारकर वह उन्हें अर्पित कर दी।

संभवतः एक ही बार उन्हें अपनी दानशीलता खली। उनके यहां एक हस्तलिखित सचित्र ग्रंथ था। एक मुसलमान सज्जन उनसे मिलने आये। उसे देखकर वे ललचा गए। हरिश्चन्द्र ने कहा, आपकी नज़र है। पीछे उसके लिए वे पांच सहस्र रुपये देने के लिए उद्यत हुए, परंतु व्यर्थ। मियां चतुर थे।

एक बार टिकट न होने से उनकी डाक पड़ी थी, एक मिलने वाले सज्जन

आये और जाते समय यह कह कर उसे ले गये कि मैं पोस्ट कर दूंगा । इसके पश्चात् जब-जब वे आये तब-तब हरिश्चन्द्र ने उन्हें पांच-पांच रुपये दिए । उनके कुछ कहने पर हरिश्चन्द्र ने कहा, तुम मेरे लड़के के समान हो । जाओ, मिठाई खाना ।

अंत में ऋण लेकर काम चलाने की दुरवस्था आ गई । उत्तमर्णों ने भी अवसर से लाभ उठाने में कोई ऋति नहीं छोड़ी । एक-एक सहस्र देकर पांच-पांच सहस्र लिखाये ।

ऐसे ही एक महाजन ने अपने रुपये पाने के लिए न्यायालय का आश्रय लिया । सर सैयद अहमद उन दिनों बनारस में न्यायाधीश थे । वे भेद जानते थे । उन्होंने हरिश्चन्द्र से पूछा, “आपने कितने रुपये लिये थे ? भारतेन्दु ने कहा, “मुझे उतने ही देने हैं जितने मैंने लिखे हैं ।” जज क्या करते ?” हरिश्चन्द्र ने ठीक ही लिखा था—

चन्द्र टरे सूरज टरे टरे जगत व्यवहार ।  
पै दूढ़ श्री हरिचन्द्र कौ टरै न सत्य विचार ।

जो हो, जब तक हिंदी का अस्तित्व है तब तक हरिश्चन्द्र अमर हैं ।

## श्रीराम हमारे राजेन्द्र बाबू

‘भारत-भारती’ के द्वारा ही मैं पहले-पहल राजेन्द्र बाबू का कृपा-भाजन होने का सौभाग्य प्राप्त कर सका। हम लोग, मैं, मेरे अग्रज और मेरे एक भतीजे सन् १९४१ में राजबंदी बनाये गये थे। मेरे अनुज सियारामशरण भी जाने के लिए सन्नद्ध थे। उस समय राजेन्द्र बाबू ने उन्हें एक पत्र लिखा था कि घर के कई लोग पकड़ लिये गये हैं। आप स्वेच्छया जाने की चेष्टा न कीजिए। आप श्वास-कास के रोगी हैं। शरीर कृश है। मैं भी इसी कारण इस बार रुक गया हूँ। युगल सरकार जो करे उसे तो शिरसा स्वीकार करना ही है।

बात यह है कि हम लोगों के पकड़ लिये जाने पर सियारामशरण ने कुछ लेख लिखे थे। उनसे ऐसी संभावना थी कि वे भी पकड़ लिये जायेंगे।

जो हो, ‘युगल सरकार’ हमारे संप्रदाय में श्रीराम-जानकी के लिए प्रयुक्त होता है। हम लोगों को राजेन्द्र बाबू के द्वारा इसका प्रयोग हुआ देखकर बड़ा हर्ष और संतोष हुआ था। वे हमारे संप्रदाय के हों वा न हों, उसके प्रति आस्था अवश्य रखते हैं। यह अनुमान भी हुआ कि उन्होंने ‘साकेत’ भी अवश्य पढ़ा है।

श्री श्रीप्रकाश जी ने राज्य सभा की सदस्यता के लिए जब मेरे नाम का सुझाव उनके समक्ष रखा था तब उन्होंने स्वयं अपनी सहमति प्रकट की थी।

मैंने उनसे निवेदन किया था कि आपका दिया सम्मान तो सौभाग्य का विषय है, परंतु इस क्षेत्र में मेरा क्या कृतित्व हो सकता है ? राजनीति की तो बात अलग रही, राजधानी के नागरिकों में भी अपने को कैसे निभा पाऊंगा, समझ नहीं पाता । मुझे यही संकोच है । मेरा अधिकांश जीवन गांव में ही बीता है । वहीं बैठकर मैं कुछ लिखता रहा हूं । उन्होंने कहा—यह तो राष्ट्रीय सम्मान है । आवश्यक नहीं कि आप सदैव यहां आया करें । नियम की रक्षा करते हुए कभी-कभी आ जाया करें, यही यथेष्ट है ।

सौभाग्य से दिल्ली का जलवायु भी मेरे अनुकूल रहा और मित्रों के आकर्षण का कहना ही क्या ? लोगों ने मुझे निभा लिया । वे निरंतर आते रहे और मैं उनसे लाभान्वित होता रहा ।

नार्थ एवेन्यू, जहां मैं रहता था, राष्ट्रपति भवन के पार्श्व में ही है । वहां से संसद भवन भी निकट है, इसलिए मुझे थोड़ा पैदल चलने का सुयोग भी मिलता रहा ।

राष्ट्रपति भवन में समय-समय पर उत्सव-आयोजन होते रहते हैं । सब संसद सदस्यों के समान मुझे भी वहां के निमंत्रण मिलते रहते थे । इसके अतिरिक्त राष्ट्रपति निज के समारोह में भी कृपा कर मुझे बुला लिया करते थे । बीच-बीच में मुझे फोन पर ही उनकी सूचना मिल जाती थी । उस वैभवपूर्ण वातावरण में राजेन्द्र बाबू की आडंबर-रहित उपस्थिति बड़ी ही स्पृहणीय दिखाई देती थी । वे आस्थावान आस्तिक पुरुष थे । उनकी निष्ठा निश्चल और निश्चल थी ।

कोई आश्चर्य नहीं यदि ऐसे विषयों में पंडित जवाहरलालजी से उनके मतभेद रहे हों । परंतु वे व्यक्तिगत विषयों में स्वतंत्र थे ।

मुना है, तिब्बत का चुपचाप चीन के चंगुल में चला जाने देना उनको अभिप्रेत नहीं था । इस दुःख से उनकी आंखें भर आई थीं । किंतु सौम्य और शांत प्रकृति के कारण वे परस्पर विवाद नहीं बढ़ने देना चाहते थे । वे अपनी मर्यादा भी जानते थे ।



## श्रद्धांजलि-संस्मरण

अपने यहां के कथा-कीर्तन, कविता-पाठ और प्रवचनों में वे रस लेते थे। और मुझको भी उससे लाभान्वित होने का अवसर देते रहते थे।

एक बार उनके एक सचिव ने मुझसे कहा—राष्ट्रपति की इच्छा है, उपाधि पाने योग्य सज्जनों के नामों का संकेत आप उन्हें दिया करें। मुझे संतोष है, मेरे प्रायः सभी सुझाव स्वीकृत हुए।

उनके जन्मदिन पर मैं उन्हें बधाई देने जाया करता था। उनकी इक-हत्तरवीं वर्षगांठ के समय राष्ट्र को स्वतंत्र हुए आठ ही वर्ष हुए थे। इसे लक्ष्य कर मैंने दो पंक्तियां लिखीं और पुष्पमाला के साथ उन्हें भेंट की—

कहां इकहत्तर हुए अभी तो आठ वर्ष ही राष्ट्रपते,  
विश्व राज्य भी तुम स्वराज्य सम भोगो चिर दिन रुचिरमते।

इन्हें पढ़कर मुसकराते हुए वे विनम्र हो गये थे।

एक दूसरे जन्मदिन पर मैंने यह लिखकर भेजा था—

जुग जुग जियो जयी राजेन्द्र।  
तुमसे कृती हमारा केन्द्र।

एक बार मैं अधिक अस्वस्थ होकर बम्बई हास्पिटल में पड़ा था वहां उनका स्वास्थ्य-कामना का पत्र पाकर उपकृत हुआ था। दूसरी बार दिल्ली के विलिंगडन हास्पिटल में था। वहां एक दिन मुझे देखने वे स्वयं भी पधारे थे। अपनी सदयता से वे अपने साधारण जनों का भी ध्यान रखते थे। राष्ट्रपति के सिनेमा-गृह में वहां के साधारण कर्मचारियों के साथ वे फिल्म देखते थे। राष्ट्रपति भवन का मुगल गार्डन वर्ष में एक महीने तक सर्वसाधारण के लिए खुला रखने का उन्होंने आदेश दे रखा था।

अपने पद का गौरव उन्हें था, गर्व नहीं।

उनकी स्मरण शक्ति बड़ी प्रखर थी। कारागार में रहते हुए उसी के बल से उन्होंने अपनी जीवनी लिख डाली थी। मैंने एक पुस्तक प्रदर्शनी में उसे देखा था। साधारण रूप से देखने पर मुझे उसमें काट-कूट नहीं दिखाई पड़ी। मेरे भतीजे श्रीनिवास एक बार उनसे मिले थे। कई वर्षों के पश्चात् जब वे दूसरी बार उनके समक्ष गये तब देखते ही उन्होंने उन्हें पहचान लिया और हम सबकी कुशलता के समाचार पूछे।

एक धनी-मानी जन पर किसी गंभीर आरोप में अभियोग चला। उनकी गृहिणी ने आकर मुझसे कहा, वे जितने अपराधी माने गये हैं, उतना उनका अपराध नहीं है। राष्ट्रपति की अनुकंपा उन्होंने चाही। उनका कथन था कि वे छोड़ दिये जायें। यदि उन्हें कुछ दंड दिया ही जाये तो वह शारीरिक न होकर आर्थिक ही हो। इस कार्य में उन्होंने मुझसे कुछ करने को कहा। मैं बड़े धर्मसंकट में पड़ा। मेरे लिए यह पहला ही प्रसंग था, इस कारण संकोच स्वाभाविक था। परंतु उन धनी महिला का दैन्य भाव देख कर मैं विवश हो गया। स्वयं अपराधी-सा होकर मैंने किसी प्रकार उनकी बात राजेन्द्र बाबू से कही। सुनकर वे कुछ क्षण मौन रहे। फिर बोले, इस अभियोग के कागद-पत्रों की प्रतिलिपियां मंगाकर मुझे दीजिए। मैंने मुक्ति की-सी सांस ली। राजेन्द्र बाबू ख्याति-प्राप्त वकील भी थे। मैंने कागद-पत्र मंगाकर उनकी सेवा में पहुंचा दिये। फिर इस विषय में कोई चर्चा नहीं चलाई। मैं जानता था कुछ करणीय होगा तो वे स्वयं करेंगे। जब कुछ न हुआ तब मैंने समझ लिया कि अपराध गुरुतर होगा।

उनके एक निकटस्थ जन सेवा से वंचित कर दिये गये। स्वर्गीय बालकृष्ण शर्मा नवीन ने उनकी जीविका का प्रश्न लेकर राष्ट्रपति से उन्हें क्षमा प्रदान करने का निवेदन किया। एक-आध सज्जन और भी थे। मैं भी था। सुनकर राजेन्द्र बाबू गंभीर हो गये। मैंने भाव देखकर दूसरी बातें छेड़ दीं। वे पुनः सहज स्थिति में आ गये और चर्चा में योग देने लगे। बीच में नवीनजी ने फिर वह बात चलाई। वे फिर गंभीर होकर मौन हो गये। ज्यों ही तीसरी बार नवीन कुछ कहने को हुए, मैंने उन्हें रोक दिया। राजेन्द्र बाबू सहृदय और दयावान थे, इसका कहना ही क्या। परंतु दंड और दया की सीमाएं वे समझते थे। मैंने उनसे निवेदन किया। आप जो करेंगे वही उचित होगा। बालकृष्णजी एक जन की जीविका के प्रश्न पर द्रवित हो गये हैं इनका यही निवेदन है—

विषवृक्षोपिसंवर्द्ध्य स्वयं छेत्तुमसाम्प्रतम्

अथवा

विष-पादप भी यदि खड़ा किया जाता है  
उसपर भी नहीं कुठार दिया जाता है ।

राजेन्द्र बाबू अपनी योग्यता, कार्यकारिता और त्याग-तपस्या के कारण सर्वप्रिय थे । हमें अपने पहले राष्ट्रपति पर अभिमान था । उनके चुनाव पर सर्वत्र संतोष प्रकट किया गया था । उनकी-सी लोकप्रियता दुर्लभ है । वे भारत राष्ट्र के नहीं, भारतीय संस्कृति के भी प्रतीक अथवा निदर्शन थे ।

दो-दो बार उन्होंने मुझे विशेष रूप से अनुगृहीत किया था । एक बार राष्ट्रपति भवन में मुझे अभिनंदन ग्रंथ देकर, तथा दूसरी बार बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् (पटना) की ओर से मेरे हाथों श्रेष्ठ लेखक के रूप में दो सहस्र का पुरस्कार लेकर ।

राजेन्द्र बाबू के पुत्र श्री मृत्युंजयप्रसादजी का स्नेह भी दिल्ली में मुझे मिला । उन्हें राजेन्द्र बाबू के पुत्र होने का गौरव सहज ही प्राप्त था परंतु राष्ट्रपति के पुत्र होने का गर्व उनमें भी न था । घंटों बैठकर उनसे साहित्य और विविध विषयों की चर्चा हुआ करती थी । जब दिल्ली से उनका स्थानांतरण हुआ तब मुझे अपने नार्थ एवेन्यू के निवास में पहली बार एक रिक्तता का अनुभव हुआ । राजेन्द्र बाबू के जाने पर तो बहुत ही सूना लगा और वहां रहना कठिन हो गया । इसी बीच मेरे हृदय की गति कुछ गड़बड़ हो गई । डाक्टरों ने सीढ़ियां चढ़ने से मुझे रोक दिया । इस बहाने मैं वह स्थान छोड़कर अन्यत्र चला गया ।

दिल्ली से अवकाश-ग्रहण कर उनके जाने के समय उन्हें विदा देने के लिए वहां के रामलीला क्षेत्र में विशाल सार्वजनिक सभा हुई थी । मैंने भी उसमें कुछ पंक्तियां सुनाई थीं । उन्हें उद्धृत करके मैं उनके प्रति अपनी विनम्र श्रद्धांजलि समर्पित करता हूं :

हमारे राजेन्द्र बाबू

कहाँ इतर शासन की कारा  
कहाँ राष्ट्रपति भवन हमारा  
लंबा था यह मार्ग तुम्हारा  
किंतु कहीं वह हृदय न हारा  
साधु तुम्हारी जीवन - धारा  
हरे हमारा कल्मष सारा ।

देश ने तुमको बनाया राष्ट्रपति श्रीमंत  
किंतु अपने आप को तुमने बनाया संत ।  
उभय रूपों से हमारे पूज्य तुम राजेन्द्र,  
धन्य हैं तुमसे तुम्हारे देश-काल दिगंत ।

श्रीराम  
जवाहरलालजी

जवाहरलालजी जिस वसुंधरा पर उत्पन्न हुए थे उसी में उन्होंने अपने को विलीन कर लिया। उसी भूमि पर उनकी इच्छा के अनुसार उनकी राख बिखेर दी गई। उनके फूल उसी की नदियों में प्रवाहित कर दिये गये। वे उसी देश में तन्मय हो गये, जिसमें उन्होंने जन्म लिया था।

वे विश्वबंधु थे। परंतु भारत को वे कितना प्यार करते थे और भारत उन्हें कितना प्यार करता था, यह उनकी अंत्येष्टि ने सिद्ध कर दिया। उनकी-सी अंत्येष्टि जाने-माने जगत्-संसार में उन्हीं की है।

उन्हीं के शब्दों में, “लोग मुझे याद करना पसंद करें तो मैं चाहता हूं, वे कहें—यह वह आदमी था, जिसने हिंदुस्तान और हिंदुस्तानियों से पूरे दिल से प्यार किया। उन्होंने भी उसे उसकी खामियों को भुला कर बहुत दुलार किया—उसे भरपूर और बेहिसाब प्यार दिया।” परंतु वे अमर हैं। मृत्युंजय हैं। मृत्यु उन्हें मारकर भी नहीं मार सकी। ऐसे पुरुष अपने विचारों और कार्यों से सदा जीवित रहते हैं। उन्होंने देश के लिए कौन-सा त्याग नहीं किया? वापू के नेतृत्व में उन्होंने विदेशी राज्य के दमन की चुनौती स्वीकार की। अंत में देश स्वतंत्र हुआ। उन्हें छोड़कर वह किसे अपने प्रधानमंत्रित्व का भार सौंप सकता था?

पहले पहल मैंने उन्हें प्रयाग में ही एक सभा में भाषण करते हुए देखा

था। उस समय हमारे नेता सभाओं में बोलते हुए दूसरे संप्रदाय के विचार से हिंदी को उर्दू का रूप देने की चेष्टा किया करते थे। परंतु उर्दू के लिए तो अपना स्वतंत्र देश (पाकिस्तान) बन रहा था। इस देश की राष्ट्रभाषा तो संस्कृत से संबंधित हिंदी ही हो सकती थी। पंडितजी उस समय भी संस्कृत शब्दों का त्याग नहीं करते थे, भले ही उनके पिता की बोली हिंदुस्तानी हो। आगे चलकर वे हिंदी के ही निकट आते गये। एक दिन मैंने हंसकर उनसे कहा था, “पंडितजी, आजकल आप क्या कहते हैं, इससे भी अधिक मेरा ध्यान आपकी भाषा पर रहता है।” वे बोले, “आज प्रातःकाल ही”—इतना कहकर वे हंस पड़े। प्रातःकाल की बात वहीं रह गई। मुझे उनके बहुत पहले के एक कार्ड का स्मरण आ गया जो उन्होंने स्वर्गीय शिवप्रसाद गुप्त को लिखा था और जिसे मैंने उन्हीं के यहां देखा था। वह नागरी में था और उसमें लिखा था—‘मैं परसों सुबु तुम्हारे पास पहुंचूंगा।’ इसे स्मरण कर मुझे लगा—कहां उस दिन का वह ‘सुबु’ अथवा ‘सुबह’ और कहां आज का यह ‘प्रातःकाल’।

सन् १९२० में दूसरी बार उन्हें कुछ निकट से देखने का अवसर मिला। ‘प्रताप’ की एक आलोचना पर रायबरेली जिले के एक ताल्लुकेदार ने संपादक गणेशजी और प्रकाशक शिवनारायणजी मिश्र पर मानहानि का अभियोग चलाया था। उसमें पंडितजी भी साक्षी के रूप में आये थे। उस समय उनकी लोकप्रियता उत्तरोत्तर बढ़ रही थी। वे वेश बदले हुए राजकुमार-से लगते थे। उनके मुख पर आभिजात्य की आभा जगमगाती दिखाई देती थी। उन दिनों की खादी मोटी ही होती थी। वह उनके सुकुमार गौर शरीर पर वल्कल जैसी लगती थी। ‘सरसिजमनुबिद्धं शैवलेनापि रम्यं’ वाली बात थी। पैरों में ऋषिवर्गी चट्टी पहने वे गांव-गांव घूमते थे और ऐसे-वैसे स्थान में भी रात बिता देते थे। सुना, दो कुरते रखते थे और नित्य बदलते रहते थे। धोते भी उन्हें आप ही थे। ठीक नहीं कह सकता कि तब जवाहर-कट सदरी आई थी वा नहीं। उनकी सुकुमारता में भी एक ऐसी बढ़ता समाई दीखती थी कि अपने अभीष्ट की ओर जाने में उन्हें कोई डर न था, कोई बाधा न थी। यही उनका पहला प्रभाव मुझ पर पड़ा। आगे उनके विषय में निरंतर आदर भाव बढ़ता गया।

सन् १९२५-२६ में कानपुर कांग्रेस में एक बार किसी बात पर मोतीलाल-

## श्रद्धांजलि-संस्मरण

जी से भी बिगड़कर उन्होंने कहा था, “बस बच्ची (इन्दिराजी) को लेकर बैठ गये। कहां क्या हो रहा है। इसकी कोई खबर नहीं।”

आरंभ से वे प्रखर स्वभाव के थे। तनिक में चिढ़ जाते थे। इधर इसमें इतना परिवर्तन दिखाई देता था कि किसी पर क्रुद्ध होने के साथ ही मृदुता धारण कर लेते थे। अधिकतर उनका कोप तात्कालिक ही होता था। उसे वे मन में नहीं रखते थे।

चिरगांव में एक आधारशिला रखने के लिए हम लोगों ने पंडितजी से प्रार्थना की थी। उन्होंने आना स्वीकार कर लिया था। बात सन् १९४६ की है। वे उस समय बम्बई से लौट रहे थे। मैं समय पर झांसी पहुंच गया। वहां भोजन की व्यवस्था हो रही थी। पंडितजी ने देखकर कहा, “आ गए आप?” मैं हंस गया। उन्होंने भोजन के उपरांत चलने को कहा। संध्या को उन्हें भाषण देने के लिए झांसी ही लौटना था। मुझसे भी भोजन कर लेने के लिए कहा गया। मैंने कहा, “मुझे अभी नहीं खाना है।” पंडितजी ने कहा, “क्या यह प्रतिज्ञा की है कि मुझे निकालकर ही अन्न-जल ग्रहण करोगे?” मैंने कहा, “खेम कुशल से आपका प्रोग्राम पूरा हो जाय तभी संतोष है।” यह कह कर मैं बैठ गया। श्री आत्माराम जी खेर के सहित हम तीनों ने भोजन किया। अन्त में उन्होंने पहले अपनी फिर हम दोनों की थालियों की ओर देखा। आत्मारामजी कुछ अस्वस्थ थे। उनकी थाली में अधिक अन्न छूटा देखकर उनकी भौहें चढ़ गईं। बोले, “इतना क्यों छोड़ा?” श्री खेर ने अपनी विवशता बताई। मुनकर बोले, “पहले ही अधिक न लेना चाहिए।” भोजनांतर फल आये। उन्होंने नहीं लिये। मुझसे कहा, “मैं अपने हाथ से ही कटे हुए फल खाना पसंद करता हूं।”

चिरगांव आने पर उन्होंने हर्षपूर्वक सब कार्य संपन्न किया। वह संस्था स्वर्गीय गणेश शंकर विद्यार्थी के नाम पर थी। गणेशजी की प्रशंसा में उन्होंने छोटा-सा भाषण भी किया। गांव की ओर से उन्हें चांदी से तोला गया। तोल के मूल्य का चैक उन्हें दिया गया। वह चैक मेरे नाम ट्रांसफर करके उन्होंने उसी संस्था को दे दिया। उस समय मैं एक चपलता कर बैठा। मेरे नाम में कोई-कोई वर्तनी की भूल कर जाते हैं। विशेषकर अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोग। बनारसीदासजी चतुर्वेदी जब ऐसा करते थे तब मुझे खलता था। मैंने

एम ए टी एच आइ कह दिया। तब तक वे मेरा नाम लिख चुके थे। तत्काल उन्होंने चैक मुझे देते हुए कहा, “देखो।” नाम ठीक लिखा था। मैं जीभ काटकर रह गया। परन्तु पंडितजी प्रसन्न ही रहे।

उन्होंने जो आधारशिला रखी थी, उस पर यह पद्य खुदा था—

जय गणेशशंकर विद्यार्थी, जो निज बलि दे गया विशाल,  
उसके हृदयतीर्थ से चर्चित यह चिरगाँव रहे चिरकाल।  
दो सहस्र दो विक्रमाब्द में शुभ शिवरात्रि आज उसका  
शिलान्यास कर रहे हमारे जन गण देव जवाहरलाल।

चाय पीने के समय अनुज सियारामशरण ने उनके हस्ताक्षर उन्हीं के कुछ ग्रंथों पर चाहे। उन्होंने अंग्रेजी ग्रंथों पर रोमन में और हिंदी संस्करण पर देवनागरी में हस्ताक्षर किये।

किसी ने उन्हें एक दोने में बेर भेंट किये। उन्हें लेकर उन्होंने एक-एक कर भीड़ के बच्चों में बांट दिया।

झांसी लौटते हुए मैंने पंडितजी से कहा, “मार्ग से एक मील परीछा पर बेतवा बांध है। मन हो तो देखते चलिए। पंद्रह मिनट से अधिक समय न लगेगा। पंडितजी ने स्वीकृति दे दी और वहां जाकर वे सचमुच बहुत प्रसन्न हुए। वहां फोटो भी लिया गया, जो उनके अभिनंदन-ग्रंथ में छपा है।

झांसी में घुसते ही एक बात अप्रिय हो गई। मार्ग के दोनों ओर से मोटर पर फूल फेंके जाने लगे। पंडितजी रुष्ट होने लगे। उन्होंने कहा, “ये फूल मसले जा रहे हैं। क्या वाहि्यात बात है।” उन्होंने मोटर रुकवा दी। मैंने उतर कर हाथ जोड़ते हुए लोगों से कहा, “हम लोगों को ऐसा कार्य न करना चाहिए जिससे पंडितजी को पीड़ा हो।”

वहां जो सभा हुई उसमें पंडितजी ने यह भी कहा था, “अंग्रेज तो अब



गए ही समझना चाहिए। वे रह नहीं सकते। उनकी शक्ति तीसरी श्रेणी की रह गई है। इस समय आप लोग क्या सोचते हैं, मैं नहीं जानता। परंतु जब एक इमारत गिरती है तब वह आस-पास की घरती को भी धंसा देती है। मुझे उनके जाने पर यही चिंता है कि हम इतने डॉक्टर, इंजीनियर और शासक आदि का प्रबंध कैसे करेंगे—उनके जाने पर, जो अब जाने ही वाले हैं।

जब कांग्रेस ने कौंसिलों में जाना स्वीकार किया तब पंडितजी ने ऐसा धुआंधार दौरा किया कि ब्रिटिश अधिकारियों ने बहुत सिर मारा, फिर भी बहुमत कांग्रेस का ही रहा। एक सभा में लाउडस्पीकर न देखकर पंडितजी चिढ़ गये। बोले, “आप लोगों को पता है, लाउडस्पीकर नाम की कोई चीज होती है?” एक अन्य सभा में लाउडस्पीकर गड़बड़ था। उन्होंने कहा, “आपकी मशीन है कि मैं आपसे जो कहना चाहता हूं उसे वह आप तक न पहुंचा कर मुझे ही लौटा देती है।”

१९५२ की बात है। मैं उन दिनों सीता निवास हिंदू विश्वविद्यालय काशी में था। राय कृष्णदास और डॉक्टर मोतीचन्द्र से वार्तालाप हो रहा था। एक जन दौड़ा-दौड़ा आया और बोला, “कलक्टर साहब आ रहे हैं।” घटना अतर्कित ही थी। हम लोग कुछ चकित हुए, तब तक बनारस के कलक्टर आ गये। हम लोगों ने उठ कर उन्हें लिया। उन्होंने पूछा, “यहां मैथिलीशरणजी गुप्त हैं?” मैंने कहा, “मैं हूं, कहिए—क्या आज्ञा है?” उन्होंने कहा, “आपसे एकांत में कुछ बात करनी है।” मैंने कहा, “ये लोग मेरे अंतरंग हैं। इनसे मेरा कोई दुराव नहीं है। फिर भी आप चाहें तो उधर के कमरे में चलिए।” उनको यही अभीष्ट था। वहां उन्होंने बताया कि प्रधान मंत्री का फोन आया है कि आपसे पूछ कर मैं उन्हें सूचित करूँ कि आपको राज्य परिषद् की सदस्यता स्वीकार करने में कोई आपत्ति तो नहीं। मैंने कहा, “उनकी आज्ञा हो तो मुझे क्या आपत्ति हो सकती है? फिर भी आइए, मैं अपने मित्रों से भी पूछ लूँ।” हम लोग फिर बैठक के कमरे में आ गए। मैंने दोनों बंधुओं को बात बताई। वे हर्षित हुए और मेरी ओर से उन्होंने स्वयं स्वीकृति दे दी। तब कलक्टर साहब ने कहा, “मुझे लिखित स्वीकृति लेकर भेजनी होगी। दो अक्षर लिख दीजिए।” मैंने लिख दिया, “मैं अपने को इस योग्य तो नहीं मानता परंतु आज्ञा कैसे अस्वीकार कर सकता हूं। वह शिरोधार्य है।”

कलकटर के आने पर मोतीचन्द्र ने कहा, “देखी कलकटर की कुशलता— तुमसे लिखा कर ले गया है कि सनद रहे और वक्त पर काम आवे।”

परंतु मुझे यह जिज्ञासा बनी रही कि दिल्ली में मेरे काशी रहने का पता कैसे पहुंचा ? एक दिन राष्ट्रपति भवन में राष्ट्रपति के निजी सचिव ने मुझे बताया, “आपके यहां का नया कलकटर बड़ा विचित्र है। जब पंडितजी ने भांसी में उसे फोन कराया कि देखो मैथिलीशरण वहां है ? पंडितजी का फोन पाकर वह घबरा-सा गया कि आपको क्यों पूछा जा रहा है। आप कोई अपराधी तो नहीं। नहीं तो आपसे पंडितजी का क्या प्रयोजन। पता लेकर उसने फोन किया, वे यहां नहीं हैं, कहीं बाहर गए हैं। पर उनके बारे में कोई ऐसी-वैसी रिपोर्ट नहीं है। पंडितजी ने क्रुद्ध होकर कहा, “ऐसी-वैसी रिपोर्ट का क्या मतलब ?” फिर उन्होंने कहा, “बनारस में राय कृष्णदास से पूछो, वे वहां हो सकते हैं।” पंडितजी मेरा और कृष्णदास का संबंध जानते थे। मैं वहीं था।

राज्य-सभा का सदस्य होकर जब मैं पहली बार दिल्ली गया तब एक बार जाकर उन्हें प्रणाम कर आना उचित जान पड़ा। उनके सेक्रेटरी उपाध्याय जी से मैंने पूछा तो उन्होंने कहा, “किसी दिन सवेरे चले जाइए। समय लेने के फेर में न पड़िए। आपको कोई काम तो है नहीं, केवल प्रणाम करना है।” दूसरे दिन प्रातःकाल मैं पहुंच गया। उस समय वहां भीड़-भाड़ भी न थी। विमला बहन ने मुझे कमरे में बिठा दिया और कहा, “अभी पंडितजी ऊपर से आते हैं।” यह कहकर वे चली गईं। वे मुझे प्रधान मंत्री के निवास की धात्री-सी लगीं जो सब ओर की देखभाल करती जान पड़ीं। वे ऐसे मिलीं मानो मुझे पहले से जानती हों। मान होता है उन्होंने ‘भारत-भारती’ की एक प्रति भी चाही थी।

मैंने कक्ष में इधर-उधर देखा। वहां अनेक सोफे और गद्देदार कुर्सियां पड़ी थीं, सामने टेबुल, जिस पर अनेक पत्र-पत्रिकाएँ थीं। परंतु मुझे कोई पत्र उठाना नहीं पड़ा। प्रसन्नमुख पंडितजी आ गये। आते ही हंसकर बोले, “दिल्ली आ गये आप ?” मैं उठ खड़ा हुआ। नमस्कार करके मैंने कहा, “आपका अनुग्रह-पूर्ण आदेश था, कैसे न आता। यहां प्रणाम करने आना था और कोई कार्य नहीं। आपके काम में बाधा न पड़नी चाहिए। मैं आज्ञा लेता हूँ।” पंडितजी

हंसकर बोले, “काम तो है ही। अभी नेपाल के महाराज को लेने हवाई अड्डे पर जा रहा हूं पर दो मिनट बैठिए।” यह कहकर वे बैठ गये, मैं भी बैठ गया। कुशल-मंगल और सुख-सुविधा संबंधी दो-चार बातें हुईं। तब तक इंदिराजी कहीं जाती हुई दिखाई पड़ीं। पंडितजी ने इन्दु कहकर उन्हें बुलाया। उनके कहने पर मेरी ओर संकेत करके कहा, “इन्हें जानती हो?” इन्दिरा ने हंसकर कहा, “जानती हूं।” मैं उठ खड़ा हुआ और मैंने पुनः प्रणाम करके बिदा ली।

पंडितजी की कार्यव्यस्तता देखकर उनका समय लेना अपराध-सा लगता था। मैं इस धृष्टता से बचता रहा। सदन में जब-जब वे आते-जाते दिखाई देते थे तब उन्हें मौन नमस्कार कर लेता था। कभी-कभी वे खड़े हो जाते और कभी-कभी जहां हम लोग बैठे होते वहां कुछ क्षणों के लिए आ जाते। एक बार मैं अपनी ओर से उनके यहां अनाहूत गया। अपने कृपालु बंधु श्री गंगाशरण सिंहजी के साथ। परंतु कार्य उनसे नहीं इन्दिराजी से था।

नवीनजी रोगशैया पर थे। इधर उनकी सदस्यता का समय पूरा हो रहा था। हम लोगों ने इन्दिराजी से कहा, “यदि उनका फिर चुनाव न हुआ तो ऐसा न हो कि उन पर इसका कोई प्रतिकूल प्रभाव पड़े और उनकी अस्वस्थता और भी बढ़ जाये। बालकृष्णजी पर सभी का स्नेह था। इन्दिराजी ने तत्काल उनके लिए पंतजी से कहने की स्वीकृति दे दी। पंतजी को स्मरण दिलाना ही यथेष्ट था। बालकृष्णजी फिर राज्य सभा के सदस्य चुन लिये गये। परंतु दुःख की बात है, वे सदन में शपथ लेने भी न जा सके। बीच में ही महा-प्रस्थान कर गये।

बाम्बे हॉस्पिटल में मेरा एक आपरेशन हुआ था। बम्बई से लौटकर जब मैं दिल्ली आया तब भी दुर्बल था। नीचे बैठने में कष्ट होता था। परंतु दिल्ली में कुर्सियां ही थीं। तुलसी स्मारक समिति की पंतजी के यहां बैठक थी। मैं भी गया। पहुंचने पर ज्ञात हुआ, पंतजी के कमरे में पंडितजी हैं। कुछ परामर्श कर रहे हैं। हम लोग बाहर के कमरे में बैठ गये। मैं जिस सोफे पर बैठा उस पर से पंतजी के कमरे से आने वाले लोग दिखाई पड़ते थे। ज्यों ही पंडितजी निकलते हुए दिखाई दिए मैं हल्के का सहारा लेकर उठने लगा। पर

उस सोफ में हूथे न थे। मेरा संतुलन गड़बड़ा गया और मैं लड़खड़ा कर गिरूंगी तब तक यह कहते हुए कि 'यह क्या करते हो' पंडितजी ने झपट कर मुझे पकड़ लिया। मैंने अपनी स्थिति बताकर कहा, "आज आप न बचाते तो फिर महीने-दो महीने मुझे पड़ा रहना पड़ता।" वे खड़े हो गए और कुछ बातचीत करने लगे। मैंने कहा, "सऊदी अरब से जो मोटर मिली है उसकी बड़ी चर्चा हो रही है। आप उस पर बैठे हैं?" बोले, "उस पर बैठने में शरम लगती है।" सामने ही उनकी मोटर खड़ी थी। मैंने सुना था वह मोटर पहले सरदार पटेल के पास थी फिर संभवतः किदवई के पास। मैंने कहा, "यह सेकंड हैंड गाड़ी अभी चल रही है?" पंडितजी बोले, "सेकंड हैंड नहीं यह थर्ड हैंड है, आओ, देखो।" वह चमचमा रही थी, मैंने कहा, "यह तो नयी-सी लगती है।" पंडितजी ने कहा, "बीज पाना ही काफी नहीं, उसका रखना भी आना चाहिए।"

वे अत्यंत तत्पर थे। जब रूस के राष्ट्रपति बुल्गानिन और मंत्री ख्रुश्चेव यहां आये थे तब एक समारोह में मेरा एक गीत गाया गया था— 'जननी तेरी जय हो।' कलकत्ते से आये हुए किसी बंगाली सज्जन ने उसकी ध्वनि और स्वर-लिपि प्रस्तुत की थी। उन्हीं के संचालन में कुछ लड़के-लड़कियों ने समवेत रूप में उसे गाया था। समारोह की समाप्ति पर पंडितजी मुझे एक कमरे में ले गये। वहां हमारे मान्य रूसी अतिथियों से उन्होंने मुझे मिलाया और उनसे कहा "अभी आपने जो हिंदी गीत सुना है, वह इन्हीं का बनाया हुआ है।" तब तक चाय आई। हम लोग खड़े ही खड़े चाय पीने लगे। सहसा मेरे हाथ से चम्मच छूट गई। जब तक मैं उसे उठाऊं, पंडितजी ने उठा लिया। मैं लज्जित होकर रह गया। कुछ बोल भी न सका।

श्री महादेवी वर्मा दिल्ली आई थीं। वहां मौलाना आज़ाद से उन्हें मिलना था। जब वे वहां गईं और अपना नाम बताकर उन्होंने सूचना देने के लिए कहा तब संबंधित जन ने एकदूसरे जन से कहा, "जाओ, कह दो कि 'महा' मिलना चाहती हैं।" महादेवीजी ने कहा, "'महा' नहीं महादेवी।" उसने कहा, "बहनजी, देवी तो सभी होती हैं।" देवीजी ने लौट कर मुझे बताया कि यह दशा है मौलाना के यहां की। हिंदी वालों की वहां कोई स्थिति नहीं है। इसे लेकर मौलाना के सेक्रेटरी श्री अस्फाक हुसैन से मेरी कुछ कहासुनी हो गई थी। वे मानी पुरुष थे परंतु मैं भी विवश था। वर्षों पश्चात एक दिन फोन आया कि

## श्रद्धांजलि-संस्मरण

मैं अश्फाक हुसैन हूँ। गुप्तजी से बात करती है। मैं दूसरे कमरे में था। समाचार से मुझे अचरज-सा हुआ। मैं जानता था कि वे अब मुझसे कभी फूटे मुंह भी न बोलेंगे। परंतु बड़ी शिष्टता से बात हुई। उन्होंने कहा, “पंडितजी ने मुझे हुक्म दिया है कि मैं आपसे उनकी ओर से दरखास्त करूँ कि बुद्ध जयंती पर पढ़ने के लिए आप एक कविता लिख रखें। जरूरत हो तो मैं आ जाऊँ?” मैंने कहा, “इसके लिए कष्ट करने की आवश्यकता नहीं। पंडितजी का और आपका आदेश शिरोधार्य है।”

अश्फाक साहब इस समारोह के प्रबंधक थे। सभा के समय हम दोनों की भेंट हुई और बड़ी सद्भावना से। जब पंडितजी पहुंचे तब ग्रहण लग रहा था। इसी को लेकर कहने लगे, “ऊपर कौन राक्षस बैठा है जो चन्द्रमा को लील ले!” चन्द्रमा के कलंक के विषय में भी उन्होंने कहा, “वह तो धरती की छाया है।” मैंने कहा, “पुराणों की प्रणाली दूसरी है। वैसे कालिदास ने भी ‘छायाहि भूमो’ लिख कर यह बात कही है।” सुनकर संतुष्ट हुए।

एक सोसाइटी के लिए अधिक चंदा मिलने के विचार से उसके आयोजकों ने यह प्रचार किया कि पंडितजी उसका उद्घाटन करने के लिए चिरगांव आ रहे हैं। मुझे पंडितजी के आने का कोई सीधा समाचार नहीं मिला था। मैंने पंडितजी को लिखा कि आपके यहां आने की बड़ी चर्चा हो रही है। आप आयें तो कृपया मेरे ही यहां ठहरें। उन्हीं का हाथ लिखा पत्र मुझे यथासमय मिला कि पता नहीं, यह चर्चा कैसे चली। एक दिन मथुरा तो जाना है। परंतु उधर आने की कोई बात नहीं। जब आऊंगा तब आपके यहाँ ठहूंगा, इसका कहना ही क्या।

मुगल बादशाहों के रहते दिल्ली में प्रवेश न करने की उदयपुर के महाराणाओं की प्रतिज्ञा थी। मुगलों को जीतकर ही वे दिल्ली में प्रवेश कर सकते थे। लार्ड कर्जन ने १९११ में जब दिल्ली में बड़ा दरबार किया था तब उसमें देश के सभी राजा गए थे, इच्छा वा अनिच्छा से। परंतु महाराणा फतेहसिंह उसमें भी सम्मिलित नहीं हुए थे। लार्ड ने उनकी प्रतिज्ञा का विचार करके उनके न आने की बात मान ली थी।

संयोग से कुछ वर्षों पश्चात मैंने दिल्ली में ही उन्हें देखा था। नगर में नहीं नगर से बाहर। उन दिनों वहां कुछ आकाश-यान आये थे, उनका प्रदर्शन हो रहा था। मैं भी अपने बंधुजनों के साथ वहां गया था। इसके पूर्व प्रयाग की प्रदर्शनी में मैंने विमान देखे थे फिर भी यह चमत्कार अभी पुराना नहीं पड़ा था। उसी समय महाराज फतेसिंह भी वहां आ गये। महाराणा के कुल के प्रति मन में सम्मान था ही, उन्हें देखने का लाभ भी मिल गया। सचमुच वे मुझे भव्यदर्शन लगे, वृद्ध होने पर भी सबल और तेजस्वी दिखाई देते थे। वहीं ज्ञात हुआ, दिल्ली में प्रवेश न करने की बात है दिल्ली के बाहर न जाने की नहीं।

स्वराज्य प्राप्त होने पर एक बार जवाहरलालजी उदयपुर गये थे। तत्कालीन नवयुवक महाराणा से वार्तालाप करके पंडितजी उन्हें दिल्ली ले आये। इसी संबंध में पंडितजी के यहां एक दिन छोटे से रात्रि-भोजन का आयोजन हुआ। मुझे भी उसमें आमंत्रित होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। उसी दिन घर से सियाराम दिल्ली आये थे। वे अपने साथ घर के हरसिंगार के फूलों की एक माला लाये थे। मैं पंडितजी के यहां जा ही रहा था जब वे पहुंचे। मैंने देखा, दिनभर की यात्रा के अनंतर भी वह कुंभलाई नहीं थी। मैंने सियाराम से कहा, “आश्चर्य है, इतनी कोमल होने पर भी यह टटकी-सी लगती है। इसे तो मैं पंडितजी को दूंगा।”

पंडितजी को फूलों से सहज ही स्नेह था। गुलाब की कली वे इसलिए अपनी अचकन में लगाते थे कि वह सुंदर होने के साथ सर्वत्र सहज में मिल जाती थी। मैं भूलता नहीं हूं तो यह बात एक बार उन्होंने कही भी थी।

प्रसन्नतापूर्वक पंडितजी ने माला ले ली। उन्हें भी यह जानकर कौतूहल हुआ कि बारह घंटे से ऊपर हो जाने पर भी यह ठीक है। उन्होंने उसकी सुगंध ली फिर दोनों हाथों से दो-तीन बार उसे ऊपर उछालकर टेबिल पर रख दिया।

फिर मुझे महाराणा के निकट ले गये। मैंने नमस्कार करके उन्हें बधाई

## श्रद्धांजलि-संस्मरण

देते हुए कहा कि अब तो दिल्ली आपकी ही है। महाराणा ने कहा, “पंडितजी ने लज्जा रख ली है और क्या कहें?”

वे प्रसन्न थे। उनसे यह जानकर मुझे भी हर्ष हुआ कि वे हिंदी साहित्य से अपरिचित नहीं हैं।

पंडितजी ने उनकी ओर भी ध्यान दिया। उनकी दृष्टि सब ओर थी। वे महाराणा को ही दिल्ली नहीं ले आये, गाड़िया लुहारों को भी उन्होंने चित्तौड़ में ले जाकर बसाया, जिनके विषय में कहा जाता है कि महाराणा प्रतापसिंह के साथ चित्तौड़ छोड़कर वे अपनी घर-गिरस्ती लेकर बैलगाड़ियों पर ही बारहों मास घूमते रहते हैं।

मुगल गार्डन में पार्टी हो रही थी। भीड़-भाड़ थी। पंडितजी भी घूम रहे थे। फोटोग्राफर इधर-उधर फोटो ले रहे थे। ज्यों ही एक फोटोग्राफर उनका फोटो लेने लगा त्यों ही एक ओर उनकी दृष्टि पड़ी। उन्होंने उसे ठहरने को कहा। मुझे पुकारा। मेरे आने पर उन्होंने मेरी बांहों में हाथ डाला और फोटोग्राफर से कहा, “हां, अब।”

कभी-कभी तो ऐसा लगता था कि क्या यही हंसता-खेलता हुआ वह पुरुष है जो अंतर्राष्ट्रीय समस्याओं पर गंभीरतापूर्वक विचार करता है और संसार में जिसकी धाक है।

नित्य बड़ी बात सामने रहते हुए भी उनकी विनोद-प्रियता अभूण्ण रहती थी। ‘संस्कृति के चार अध्याय’ पर अकादमी का पुरस्कार देते हुए दिनकर जी से उन्होंने कहा, “इसकी भूमिका तो मैंने लिखी है, मेरा कितना हिस्सा है, इसमें?” मैंने कहा, “आधा ठीक है। ग्रंथ में भूमिका ही तो महत्त्व रखती है।”

होली के उत्सव पर पंडित जी के यहां कविता-पाठ हो रहा था। उसमें तत्कालीन वित्तमंत्री ने भी एक हिंदी रचना पढ़ी थी। वे संस्कृत के विद्वान हैं। बजट पर सदन में मैं भी कुछ पद्य पढ़ा करता था और वे पद्य में ही उत्तर

दिया करते थे। पंडितजी की आज्ञा से जोश साहब ने भी, जो अब पाकिस्तानी हैं, कुछ शेर सुनाये। मैंने भी एक रचना पढ़ी। उन दिनों शासन के लिए बनाये गये एक हिंदी कोष की चर्चा थी। जिसमें केंद्रीय मंत्रिमंडल के लिए 'बिच बिन्दी की खोली' कोषकारों ने निश्चित की थी उसी को लक्ष्य कर मैंने लिखा था।

रंग किसी की पिचकारी में राग किसी की झोली में,  
खेलो खुलकर फाग बंधुओ बिच बिंदी की खोली में।

पर्याप्त हंसी हुई।

भारत कला भवन के एक उद्घाटन के लिए पंडित जी काशी आये। विश्वविद्यालय में ही एक अन्य सभा थी। उसमें राय कृष्णदास नहीं जा सके। कला भवन में सज्जा करनी थी। उसी में लगे थे। जैसे ही पंडितजी कला भवन में आये, कृष्णदास को देखते ही बोले, "तुम कहां थे। अभी सभा में मैंने तुम्हारी इतनी तारीफ की और तुम गायब।"

मैं भी साथ था। पंडितजी ने पर्याप्त समय तक घूम-घूमकर कला भवन के कक्षों का चक्कर लगाया। उनकी कला-रुचि देखकर साश्चर्य हर्ष हुआ। उन्हें समय ही कब-कब मिलता था। इसलिए ऐसा अवसर पाकर उन्होंने त्वरा न करके उसका भरपूर उपयोग किया। बीच-बीच में कुछ पूछताछ भी की।

नयी दिल्ली में कहीं एक विशेष नाटक हो रहा था। संसद-सदस्यों को भी उसमें आमंत्रित किया गया। मैं भी गया, परंतु मेरा मन न लगा। मैं उठकर चल दिया। सामने आते हुए पंडितजी मिल गये। बोले, "मैं आया और तुम कहां चले?" मैं उनके साथ लौटकर फिर बैठ गया। संभवतः उनका मन भी नहीं रमा। बीच-बीच में इधर-उधर की बातें करने लगे। मुझसे बोले, "कवि अधिकतर भावुक ही होते हैं। चीन के एक कवि चन्द्रमा को चकोर की तरह देखा करते थे। एक दिन झील में उसकी झिलमिल परछाई देखकर उसकी ओर दौड़े और पानी में डूब गये।"



कवि का नाम भी उन्होंने बताया था, मैं भूल गया ।

विज्ञान भवन में कोई सभा हो रही थी । पंडितजी की एक ओर कुछ लोग बैठे थे । दूसरी ओर की कुर्सियां सूनी पड़ी थीं । मैं सामने की पंक्ति से उठकर उनके पास जा बैठा । उन्होंने पूछा, “क्या बात है ?” मैंने कहा, “इधर का सूना स्थान मुझे देखने में ठीक न लगा । इसीलिए मैं यहाँ आपके पास आ गया हूँ ।” पंडितजी को यह ठीक लगा ।

एक दिन पंडितजी के यहाँ साहित्य गोष्ठी थी । लोग पहुँच गये परंतु बाहर थे । उनका फोन आया कि चाय पानी करके कार्य आरंभ कर दिया जाये, मुझे थोड़ा विलंब होगा । वे किसी विदेशी अतिथि को विदा करने में लगे थे । उनकी आज्ञा का पालन किया गया । एक-दो सज्जनों ने कुछ पढ़ा तब तक पंडितजी आ गये । आते ही बोले, “मैं कुछ लेट तो हुआ परंतु देखिए, मुकुलजी को ले आया हूँ । ये अचानक दिखाई दे गये और मैं इन्हें ले आया ।” सब लोगों ने हर्षपूर्वक उन्हें लिया । उसके बाद पंडितजी बीच में बैठ गये । उनके निवास के किसी कर्मचारी ने लाकर उनके समक्ष चाय उपस्थित की । पंडितजी ने नाक-भौंह चढ़ाकर उसे हटा दिया । अधीन जन उसे लेकर लौट रहा था कि मदालसा जी ने उसे रोक कर उसके हाथ से पात्र ले लिया और वे उसे पंडितजी के सम्मुख ले जाकर बोलीं, “हम लोगों को चाय पिलाकर आप क्यों नहीं पियेंगे । हारे-थके आये हैं, लीजिए ।” पंडितजी ने देखा और चुपचाप प्याला ले लिया । इस बार हम लोग खिलखिलाकर हंस पड़े । पंडितजी भी मुस्करा गये ।

कलाकारों के साथ वे यथेष्ट आनंद पाते थे । एक बार उनके यहाँ लोक-नृत्यों का कार्यक्रम हुआ । भिन्न-भिन्न, प्रदेशों के लोकनृत्यों का प्रदर्शन हुआ । कलाकारों को बिठाकर उनका फोटोग्रुप भी लिया गया । पंडितजी को भी उन्होंने अपने साथ बिठाया । हम लोग दर्शकों में सामने की ओर थे मैंने देखा । पंडितजी छिपे-से दिखाई पड़ते हैं । मैंने बढ़कर उनसे कहा, “तनिक आगे आ जाइए ।” वे हंसकर आगे खिसक आये ।

संसदीय हिंदी परिषद् का समारोह सेंट्रल हाल में हो रहा था। उसमें स्वर्गीय डा० रघुवीर ने भाषण देते हुए शासन की उद्धत आलोचना की। उनका ढंग मुझे भी कुछ वैसा ही लगा। उनके पश्चात् पंडितजी ने उठकर कहा, “अब मैं क्या कहूँ, डा० रघुवीर ने तो मुझे मुलजिम बनाकर खड़ा कर दिया है। हमारी कठिनाइयाँ लोग जानते नहीं। अभी उस दिन रूस के एक पत्र का हिंदी में उत्तर देना था। शब्दों के लिए रात दो बजे तक परेशानी रही। आप घबराते क्यों हैं? हिंदी तो आ ही रही है। पर हर एक काम में समय तो लगता ही है। फिर भी डा० रघुवीर का यह कहना तो ठीक ही था कि सत्ता ने तत्परता से काम नहीं किया।”

पीछे मैंने डा० रघुवीर से कहा, “आप अधिक उग्र हो गये थे।” उन्होंने भी यह अनुभव किया कि मैं बहुत उत्तेजित हो गया था। बोले, “क्या पंडितजी से मिलकर यह कह दूँ कि स्थिति ने मुझे विवश कर दिया। आपको दुःख हुआ क्षमा कीजिए।” मैंने कहा, “आपका विचार ठीक है ऐसा ही कीजिए। पंडितजी तो आपकी विद्वत्ता और आपके कार्यों के बड़े प्रशंसक हैं, यह मैं जानता हूँ, आपके प्रति उन्हें आदर है।” डाक्टर साहब पंडितजी के पास गये। जब उन्होंने उनसे क्षमा मांगी तब पंडितजी ने कहा, “अरे, ऐसी बातें तो हमेशा होती रहती हैं, उनके लिए हम और आप कहाँ तक क्षमा मांगते फिरेंगे। एक बात थी आई और गई।” पंडितजी से मिलकर डाक्टर भी संतुष्ट होकर लौटे और उन्होंने मुझसे कहा, “व्यवहार शुद्ध हो गया।”

मेरी अध्यक्षता में हुए एक समारोह में सेठ गोविन्ददास जी को पंडितजी ने अभिनंदन-ग्रंथ भेंट किया था। उस समय गोविन्ददास जी ने अपने भाषण में कहा, “मुझे अपने हाथ नहाना भी न आता था। दो-दो चार-चार नौकर मुझे नहलाया करते थे। जब मैं पहली बार जेल गया तब नहाने के समय ज्यों ही मैंने लोटा भरकर सिर पर डालना चाहा त्यों ही वह खटाक से मेरे सिर में लगा। पंडितजी ने सारी सभा को हंसाते हुए कहा, “अच्छा हुआ जो आप कांग्रेस में आ गये। नहीं तो जन्म-भर लोटे से सिर लड़ाने की हालत में ही बने रहते।”

## श्रद्धांजलि-संस्मरण

प्रयाग विश्वविद्यालय का उपाधि-वितरण समारोह था। रात के भोजन में आमंत्रित सज्जन आ रहे थे। मैं भी था। महादेवी जी के साथ एक ओर खड़ा देख रहा था। इतने में पंडितजी आये। हम दोनों को देखकर वे हमारे पास भी आ गये। कुछ लोगों को आश्चर्य भी हुआ। एक सज्जन ने पीछे मुझसे पूछा भी, “जनाब कहां से तशरीफ लाए हैं।” मैंने कहा, “मैं झांसी जिले के एक गांव का हूं।” संभवतः इससे उनका विस्मय और भी बढ़ गया।

पंडितजी ने महादेवीजी का हाथ पकड़कर कहा, “कैसी हो रही हो?” मैंने कहा, “इधर ये बहुत अस्वस्थ हो गई थीं।” पंडितजी ने तुरंत उनका हाथ छोड़ दिया, कहा, “बीमार होने से मुझे नफरत है। तुम क्यों बीमार पड़ी? मैं तुमसे बात नहीं करूंगा।” मैंने कहा, “इन्हें कोई काश्मीरी भोजन तो बता दीजिए जिससे शीघ्र बल आ जाए।” बोले, “गोشت नहीं अंडे वेजीटेरियन।” परंतु महादेवीजी के भाग्य में वह वेजीटेरियन भी न था।

राज्य-सभा पहले राज्य परिषद् थी। पीछे उसका नाम राज्य-सभा हुआ। उन्हीं दिनों एक बार मैं नरेन्द्रदेवजी के साथ बैठा बातें कर रहा था। इतने में पंडित जी हंसते-हंसते आये और बोले, “हम लोग लोक-सभा के हैं, तो क्या आप लोगों की सभा को परलोक-सभा कहा जाये?” नरेन्द्रदेवजी हंस गये और बोले, “आपको अधिकार है, हमें चाहे जहां बैठाइए।” हठात मेरे मुंह से निकल गया, “परंतु पंडितजी आपको तो दोनों सभाओं में उत्तर देना होगा।” “ज़रूर, मैं तैयार हूं,” कह कर पंडितजी हंस गये। उनमें विश्वास था।

पंडितजी के यहां कोई बड़ी पार्टी थी। इन्दिराजी के साथ वे स्वागत के लिए खड़े हुए थे। उन दिनों यह चर्चा चल रही थी कि प्रधानमंत्री-निवास छोड़ कर पंडितजी अपने लिए छोटे घर की व्यवस्था कर रहे हैं। मैंने नमस्कार कर भवन की ओर हाथ का संकेत करते हुए कहा, “इसे कब छोड़ रहे हैं?” पंडित जी ने ऊपर की ओर देखकर कहा, “अभी तो जमे हैं।” मैंने कहा, “छोटे से स्थान में काम चल जायेगा? आपके यहां देश-विदेश के लोग आते रहते हैं। ऐसा न हो कि विदेशी लोग यह प्रचार करने लगें कि भारत जैसे बड़े देश में उसके प्रधानमंत्री के योग्य स्थान की भी व्यवस्था नहीं है।” पंडितजी मौन रहे

फिर वे दूसरी ओर बढ़ गये। मैंने इन्दिराजी से कहा, “क्या स्थिति है?” बोलीं, “नये घर का जो एस्टीमेट बनकर आया है वह भी अधिक समझा गया है। दूसरा एस्टीमेट बनाने को कहा गया है।” मैंने कहा, “अबकी बार कुछ और बड़ा एस्टीमेट बनना चाहिए। अंततः घर की व्यवस्था तो आपको ही करनी होगी। पीछे डांट-डपट सहने की अपेक्षा पहले ही चेत जाना अच्छा है।” इन्दिरा जी हंस गईं।

‘भारती-संगम’ के शिलान्यास से तीन-चार दिन पहले हम लोग—उसके अध्यक्ष, मंत्री और सदस्य—पंडितजी से मिले थे। वहां की व्यवस्था आदि के विषय में बातचीत हो जाने पर चलने के पहले मैंने कहा, “उस अवसर के लिए मैंने कुछ पद्य लिखे हैं। उसकी एक पंक्ति यह है—

भारत का यह लाल जवाहर रखता है आधार शिला

मेरे कुछ मान्य मित्रों की सम्मति है इसमें आपका उल्लेख बहु वचन में होना चाहिए—

भारत के ये लाल जवाहर रखते हैं आधार शिला

परंतु मुझे वही अच्छा लगता है। पंडितजी ने कहा, “वैसा ही रखिए जैसा आपने लिखा है।” कहकर मुसकरा गये। मेरे मित्र भी हंस गये।

शिलान्यास के समय वे प्रसन्न मुद्रा में थे। परंतु उनका शरीर शिथिल ही था। बैठक मंच पर नीचे गदिया तकिया थी। वे बैठ तो गये परंतु उठने में उनके साथ के एक जन ने सहारा दिया। जब वे सीढ़ियां उतरने को हुए तब मैंने उनकी बांह पकड़ ली। चौंक कर उन्होंने मेरी तरफ देखा। मैंने कहा, “मैं आपको सहारा नहीं दे रहा हूँ, आपका साहरा ले रहा हूँ।” वे हंस गये। वह हंसना मुझे आज भी दिखाई देता है।

पंडितजी के अभिनंदन-ग्रंथ के लिए मैंने एक पद्य लिखा था—

## श्रद्धांजलि-संस्मरण

देती रही रत्न जन-धन के तू मुझको चिरकाल से  
देगी आज प्रसाद-रूप क्या प्रभु-पूजा के थाल से ?  
पुण्य भूमि यह सुन जगती से बोली वचन रसाल-से—  
'मेरा सा तेरा आंचल भी भरे जवाहरलाल से ।'

और आज भरे हृदय से मैं यही कह सकता हूँ—

हम कोटि कोटि कुटुम्बियों की और विश्व विशाल की  
सुख-शांति चिंता थी तुम्हारी सहचरी चिरकाल की ।  
तुम जागते थे रात में भी जब कि सोते थे सभी,  
जन मात्र की सच्ची विजय है जय जवाहरलाल की ।

## श्रीराम नरेन्द्रदेवजी

मंझोला कुश शरीर, श्वास-कास के कारण शीघ्र शीघ्र आती-जाती सांस, रक्तहीन फिर भी मूँछों के कारण भरा-भरा-सा प्रभविष्णु मुखमंडल और तेजः-पूर्ण दृष्टि से भी नरेन्द्रदेवजी वैसे विद्वान और वाग्मी नहीं जान पड़ते थे, जैसे वे थे। आचार्य की अपेक्षा उन्हें अवध का तालुकेदार अवश्य समझा जा सकता था जो उनके विचारों के प्रतिकूल ही पड़ता। मैंने जेल में देखा है, उन्होंने अपने लिए प्रथम श्रेणी का रहन-सहन भी स्वीकार नहीं किया था। वे अचकन के साथ ढीला पायजामा पहनते थे। चूड़ीदार पायजामा पहने मैंने उन्हें नहीं देखा। श्वास-कास के रोगी को तंग कपड़े सुखद नहीं होते। सहारे के लिए छड़ी के स्थान पर इधर उनके हाथ में हिमराड का डिब्बा ही रहता था, जिसका धुआं वे बीच-बीच में लेते रहते थे।

जो जिस स्तर का होता उससे वे उसी स्तर पर बातचीत करते थे। किसी पर अपनी विद्वत्ता की धाक नहीं जमाते थे। साधारणतः इसका अनुमान भी न होता था कि वे इतने बड़े मनीषी हैं। इसका परिचय तो तभी मिलता था जब उनसे कोई विशेष प्रश्न किया जाये।

एक बार खान अब्दुलगफ्फार खां के साथ दौरा करते हुए वे चिरगांव भी पधारे थे। परंतु रुक नहीं सके। उसी दिन उनकी भाषण शक्ति का परिचय हम लोगों को मिल गया था। सभा में मुसलमान अच्छी संख्या में थे। इसलिए

वे उर्दू में बोले थे । पर मुसलमान भी गांव के थे । उनके पल्ले कितना पड़ा होगा ?

सियारामशरण भी श्वास-कास के रोगी थे । एक बार जब मैं काशी में था, उन्होंने मुझे लिखा कि आचार्यजी से मिलकर पूछना, कोई अनुभूत योग उन्हें मिला हो तो मैं भी उसका प्रयोग करके देखूं । आचार्यजी काशी विद्यापीठ के कुलपति थे । मैंने विद्यापीठ जाकर सियारामशरण की बात उन्हें बताई । उन्होंने कहा, “इस रोग की अभी तक कोई अच्छी ओषधि नहीं मिली । कुछ योग ऐसे हैं जिनसे थोड़ा-सा तात्कालिक लाभ हो जाता है । ऐसी ओषधियां विष मिश्रित ही होती हैं । परंतु विवश होकर उन्हें लेना पड़ता है । कुछ चैन पड़ने के लिए । भविष्य में भले ही कुछ हो । मैं आजकल ‘फेलसोल’ नामक ओषधि ले रहा हूँ ।

सियारामशरण को उस ओषधि से कुछ सहारा मिला पर बहुत दिन नहीं । उसके पश्चात् हिमराड आया । वह अन्त तक रहा । आचार्यजी भी हिमराड लेने लगे थे ।

रोग ने पहले ही उन्हें जर्जर कर दिया था । इसी दशा में उन्हें अपने समाजवादी समुदाय का भार उठाना पड़ा । उनके स्वजनों की चिंता स्वाभाविक थी परंतु उपाय न था । न तो संस्था ही उन्हें बैठने दे सकती थी न वे ही उसके बिना बैठ सकते थे । उन्हें अपनी नहीं अपने दल की चिंता रहती थी । उनका ममत्व मोह तक पहुंच गया था । वही उनका व्यसन बन गया था । एक दिन जब फिर मैं उनसे मिलने गया तब उन्हें रोग का दौरा था । सांस समा नहीं रही थी । हिलना-डुलना भी नहीं बन पड़ता था । तकिये के सहारे वे भेकासन से बैठे थे, इस कारण कि लेट न सकते थे । इसी समय दो जन वहां आये और बोले, “आज आपको दो सभाओं में बोलना है ।” नरेन्द्रदेवजी ने कातर भाव से उनकी ओर देख मेरी ओर देखा । मुझसे न रहा गया और हठात् मेरे मुंह से निकल गया, “आप दोनों एक काम कीजिए । इनका एक-एक पैर पकड़कर दोनों ओर खींचिए और इनके सरीर के दो भाग कर दोनों सभाओं में ले जाइए ।”

आगे चलकर मुझे पता चला, वे मुझे कवि नहीं, पद्यकार मात्र मानते हैं, भले ही पद्यकार के पहले प्रतिष्ठित शब्द और जोड़ देते हों, इससे अधिक नहीं।

एक कविता-संग्रह में, जिसमें तथाकथित छायावादी कवियों की रचनाएं थीं, मेरी भी दो-तीन कृतियां रख दी गई थीं। यह बात उन्हें ठीक नहीं लगी। संग्रहकार संकोच में पड़ गए। मैंने उनसे कहा, मेरी रचनाएं न रहने से मेरी कोई हानि नहीं, प्रसाद जी संतुष्ट हो जायेंगे, यह लाभ है। इसलिए उन्हें छोड़ देना चाहिए। परस्पर स्नेह की वृद्धि हो जाने पर संभवतः मेरी रचनाओं के संबंध में भी उनके विचारों में कुछ परिवर्तन हो गया था। इसके पूर्व उन्होंने मेरी एक ही कृति की प्रशंसात्मक चर्चा की थी। वह थी 'केशों की कथा'।

जो हो, एक बार मिलकर उनसे फिर मिलने की इच्छा रही। दूसरे दिन मैं उनके यहां जाने को था कि वे स्वयं कृष्णदास की कोठी पर आ गए। ठिगना परंतु गठा हुआ सुंदर शरीर, विशाल भाल और गौर वर्ण। मुंह में पान और अधरों पर मुस्कान। धोती-कुरता और कौशेय की चादर। आकर्षक व्यक्तित्व, स्वल्प समय में ही मुझे ऐसा लगा मानो हम लोग चिर परिचित हैं।

जब-जब मैं काशी जाता प्रायः प्रतिदिन उनसे मिलना होता और घंटों बैठक जमती। कभी कृष्णदास की कोठी पर, कभी उनके बंगले पर, कभी प्रसाद जी के घर और कभी उनकी दुकान पर। कितना आमोद-प्रमोद होता, कह नहीं सकता। बीच-बीच में खान-पान भी। पान-धूम तक ही। तब मैं तमाखू पीता था। खाने के विविध प्रकार और प्रत्येक बार नये-नये। वे स्वयं पाक-पटू थे। एक बार ही मैंने हास-परिहास में उन्हें क्षुब्ध होते देखा। होली के दिन थे। इस पर्व पर लोग अपने इष्ट मित्रों और व्यवहारियों के यहां आते-जाते हैं और एक-दूसरे पर रंग-गुलाल से होली खेलते हैं फिर बैठकर हास-परिहास करते हैं। उस दिन हम लोग भी प्रसाद जी के यहां गये थे, साथ में कृष्णदास के प्रमुख कर्मचारी श्री गुरुधन सिंह भी थे। बातचीत में बहुत शिष्ट। हजूर-हजूर कहकर उन्होंने भी व्यंग्य-विनोद में भाग



## श्रद्धांजलि-संस्मरण

लिया। बात कुछ बढ़ गई। उत्तर-प्रत्युत्तर ने वाद-विवाद का रूप धारण कर लिया। एक बार कुछ हतप्रभ-से होकर प्रसाद जी ने एक अप्रिय बात कह दी। मैंने साग्रह उन्हें शांत किया। गुरुधनसिंह जी रंग-कुरंग देखकर पहले ही मौन हो गये थे। प्रसाद जी का मुख लाल हो गया। उस दिन छत्ती भी कुछ गहरी थी। एक कारण यह भी हो सकता है कि उनके आभिजात्य को ठेस लगी हो। अंततः गुरुधनसिंह जी कृष्णदास के वेतन-भोगी थे और प्रसाद जी उनके अंतरंग बंधु। इसी समय वहां स्वर्गीय महामहोपाध्याय पं० देवीप्रसाद कविचक्रवर्ती आ गये। मैं उनके विषय में सुन चुका था और स्वयं उनसे मिलना चाहता था। प्रसाद जी ने परिचय कराया। मैं नहीं जानता था कि वे हिंदी में भी कविता लिखते हैं। कितने ही कवित्त पढ़कर उन्होंने नया वातावरण उत्पन्न कर दिया। आज भी उसकी गूंज मेरे मन में उठती है—

एक पग नाव एक पग है कगारे पै

प्रसाद जी काशी के प्रतिष्ठित नागरिक थे और वहां सब लोग उनका आदर करते थे। उनके टोले के लोग तो उन्हें अपना अग्रवर्ती ही मानते थे। उनसे वे प्रायः भोजपुरी में ही इस प्रकार आत्मीयतापूर्वक बातचीत करते थे कि मैं बार-बार उसे सुनने को उत्सुक रहता था। साहित्यकारों का भी एक दल उनका अनुगत था। एक बार हंसकर उन्होंने कहा था, किसी आलोचना-प्रत्यालोचना का रस लेना हो तो मुझसे कहो और तटस्थ होकर कौतुक देखो। कहने को तो यह बात उन्होंने कही, परंतु जहां तक मैं जानता हूं, ऐसा कौतुक न तो उन्होंने स्वयं देखा, न दूसरों को दिखाया।

अपने भानजे स्वर्गीय अम्बिकाप्रसाद के द्वारा, अपनी आर्थिक सहायता से, 'इन्दु' नामक एक मासिक पत्र उन्होंने निकलवाया था। अधिकतर वे उसी में लिखा करते थे। अम्बिकाप्रसाद जी के आग्रह से मैंने भी दो-एक रचनाएं उसके लिए भेजी थीं।

परिचय बढ़कर स्नेह में परिणत हो गया। यह मेरा सौभाग्य ही था कि कवि का स्नेह-भाजन बन गया। मेरे काशी पहुंचने का समाचार उन्हें पहले ही से मिला रहता। कच्ची रसोई न खाते थे। इसलिए कुछ पहले ही

मत कांग्रेस दल के ही पक्ष में देता था । ज्यों ही उठकर जाने लगा, नरेन्द्रदेव जी ने मेरा हाथ पकड़ लिया । कहा, “कहां जाते हो ? तुम्हें कांग्रेस के पक्ष में बोट देना है तो मुझे भी विरोध में देना है । तुम जाओगे तो मुझे भी जाना पड़ेगा । हम दोनों के मत आपस में लड़कर कट मरेंगे । इसलिए अच्छा यही है कि व्यर्थ भागदौड़ न करके सुख से यहीं बैठो ।” यह कहकर पास ही खड़े ‘ब्वाय’ को उन्होंने काफी लाने का आदेश दिया । पार्श्व में बैठे सदस्य से उन्होंने कहा, “देखो तो राष्ट्रपति के नाम-निर्देशित सदस्य होने पर भी ये कांग्रेस पर बिके जा रहे हैं । क्या कहूं ?”

गये नरेन्द्रदेव, तुम, पर क्या होकर हम सबसे निस्नेह ?

ज्ञान और गुण-गौरव गरिमा झल न सकी तुम्हारी देह  
दिव्य रूप में देते हो तुम अब भी शुभ-संदेश हमें  
किंतु कहाँ सुनने देता है भाँय भाँय करता यह नेह ।

## श्रीराम प्रसादजी

चालीस-बयालीस वर्ष हुए, मैं काशी गया था। एक संभ्रांत कुटुंब के अतिथि के रूप में यह मेरी पहली दूर की यात्रा थी। हां, दूर की। इसके पूर्व मैं अपने संबंधियों के यहां आता-जाता था। परंतु उस आने-जाने की सीमा दस-बीस कोस से अधिक न होती थी। बचपन में अयोध्या, काशी, प्रयाग और चित्रकूट की तीर्थयात्राएं अपने गुरुजनों के साथ मैं कर चुका था। परंतु किसी के अतिथि के रूप में नहीं।

राय कृष्णदासजी मेरे आतिथेय थे। उन्होंने बड़े स्नेह से मुझे अपने यहां ठहराया था। स्वर्गीय बार्हस्पत्यजी से मुझे कुछ काम था और उन दिनों वे काशी में ही थे। उन्ही दिनों स्वामी सत्यदेव जी अमेरिका से शिक्षा प्राप्त करके लौटे थे और देश में धूम-धूमकर व्याख्यान दे रहे थे। इसी क्रम में काशी आये थे। नागरी प्रचारिणी सभा में उनका भाषण था। भाई कृष्णदास मुझे भी वहां ले गये।

स्वामी सत्यदेव जी के लेख 'सरस्वती' में छपा करते थे और मैं उन्हें चाव से पढ़ा करता था। उनका भाषण भी वैसा ही प्रभावशाली था। प्रसाद जी भी सभा में आये थे और पहले-पहल वहीं मैंने उनके दर्शन किये। भाई कृष्णदास से उनकी घनिष्ठता थी। उन्होंने ही मुझे उनसे मिलाया। उनके व्यवहार में बड़ी शिष्टता दिखाई दी। मैंने समझा, मेरी रचनाओं के कारण ही प्रसाद जी इतने सम्मानपूर्वक मुझसे मिल रहे हैं। परंतु यह मेरी भूल थी।

आचार्यजी की सेवा में नियुक्त था वह नित्य पान ले जाता था। वह बड़ा शिष्ट था, कुलीन ठाकुर। मुझे यह जानकर बड़ा अचरज हुआ कि वह प्रसिद्ध डाकू डोंगर बटरी के दल का एक साथी था। मनुष्य के जीवन में कभी-कभी अचानक कैसे परिवर्तन हो जाते हैं। भले और बुरे दोनों प्रकार के। आचार्यजी की सेवा का फल उसे मिल गया। उनकी अनुशंसा पर वह छोड़ दिया गया। मैं नहीं मानता कि उसके सद्‌व्यवहार में कपट था।

आचार्यजी काशी विश्वविद्यालय के जब कुलपति थे तब भी काशी जाने पर उनके दर्शन होते रहते थे। उनकी कोठी के पार्श्व में कृष्णदासजी का 'सीता-निवास' था, जहां मैं ठहरा करता था। उन्हें वहां भी बहुत काम रहता था—कितने लोग आते-जाते रहते थे। फिर भी बहुधा संध्या समय वे 'सीता-निवास' में आ जाया करते थे। डाक्टर वासुदेवशरणजी और डाक्टर हजारीप्रसादजी एवं ब्रजमोहन व्यास जी आदि अन्य कुछ सज्जन भी आ जाते थे और यह प्रयत्न करते थे कि उन्हें दिन-भर की थकान से कुछ पुनर्नवता मिल जाये।

शिक्षा मंत्रालय की ओर से नियुक्त विश्वविद्यालयों के जो निरीक्षक थे उनके व्यवहार से हिंदू विश्वविद्यालय के एक अधिकारी एक बार बहुत दुःखित हुए। उन्होंने अपने को अपमानित माना। आचार्यजी वहां नहीं थे। अपने घर फैजाबाद या लखनऊ गये थे। दो-तीन दिन में आने वाले थे। परंतु अपने को अपमानित हुआ मानने वाले सज्जन इतनी प्रतीक्षा न कर सके। उन्होंने जाकर नरेन्द्रदेवजी को अपनी बातें बताईं। सुन कर उन्हें भी क्षोभ हुआ। बनारस की यात्रा स्थगित करके सीधे वे दिल्ली गये और जवाहरलालजी से मिले। बोले, "ऐसी स्थिति में काम करना मेरे लिए संभव नहीं।" परिणाम यह हुआ कि उक्त निरीक्षक उस पद से हटा दिये गये, यद्यपि के.मौलाना साहब के बहुत निकटस्थ थे। संभवतः वह विधि ही समाप्त कर दी गई।

मतभेद रहने पर भी जवाहरलालजी उनका बहुत आदर करते थे और उन्हें प्रमाण मानते थे। एक बार किसी प्रसंग में उन्होंने सदन में भी यह बात कही थी, जैसे श्री श्रीप्रकाशजी के संबंध में कहा था, "ऐसा ईमानदार आदमी मैं दूसरा नहीं जानता।" कहने की आवश्यकता नहीं श्री श्रीप्रकाशजी से आचार्यजी का कितना घनिष्ठ स्नेह संबंध था। संभवतः सबसे अधिक।

## श्रद्धांजलि-संस्मरण

जब आचार्यजी राज्य-सभा के सदस्य चुने गये तब उन्होंने शपथ हिंदी में न लेकर अंग्रेजी में ली थी। मुझे यह अच्छा न लगा। मैंने उनसे इसका कारण पूछा तो उन्होंने कहा, “ब्रिटिश शासन में पद-ग्रहण के समय हम लोगों ने निश्चय किया था कि शपथ अंग्रेजी में ही ली जाये। जब हम अंग्रेजों को ही नहीं मानते तब उनकी भाषा में ली गई शपथ का मूल्य ही क्या ?” यह कहकर वे व्यंग्यपूर्वक मुस्कराये। मैंने कहा, “यह तो छल ही हुआ—सत्यंनतश्छलम-म्युपैति।” वे बोले, “छल न कहकर इसे राजनीति भले ही कह लीजिए।” मुझे हरिश्चन्द्र की यह पंक्ति स्मरण आ गई—

इन पापिन संग पाप किये हूँ पुण्य सदा ही।

उनका एक बड़ा ग्रंथ अधूरा पड़ा था। मैंने कहा, “कुछ समय देकर उसे तो पूरा कर लीजिए।” कहने लगे, “अबकी बार जाकर उसी काम में लगूंगा। और उसे निपटाकर ही दिल्ली आऊंगा।” परंतु कुछ ही दिन पश्चात् सुना कि अपने दल की अध्यक्षता करने वे नागपुर गये और वहां का कार्य पूरा होने के पहले ही उन्हें अस्पताल जाना पड़ा। कुशल यही है कि ग्रंथ प्रकाशित हो गया और उस पर पांच हजार का अकादमी का पुरस्कार भी मिला। परंतु उनके पीछे।

किसी हकीम के कहने से कुछ दिन उन्होंने मलाई का सेवन किया था। नयी दिल्ली में उसके मिलने में कुछ असुविधा हुई। एक दिन वे मेरे यहां बैठे थे। रात हो गई थी। मैंने ब्यालू के लिए कहा। इसी प्रसंग में उन्होंने उक्त बात कही। मेरे भतीजे श्रीनिवास चुपचाप उठे, बाहर चले गये और आध घंटे के भीतर आधा सेर मलाई लाकर उन्होंने उनके सामने रख दी। आचार्यजी ने प्रसन्न होकर कहा, “यह इस समय कहां मिल गई।” श्रीनिवास को पता था कि खारीबावली की किसी दुकान में अच्छी मलाई मिलती है। वे टैक्सी लेकर गये और ले आये।

सदन में आते ही वे मेरी सुध लिया करते थे। एक दिन हम लोग सेंट्रल हाल में बैठे बातें कर रहे थे। इतने में किसी विषय पर सदन में मत-विभाजन की मांग पर सदस्यों की पुकार की घंटी बजी। बाध्य न होकर भी मैं

विलक्षण भाषण-शक्ति थी उनमें। शुद्ध हिंदी, उर्दू और अंग्रेजी में एक समान धाराप्रवाह वे घंटों बोल सकते थे। ऐसा जिसे लोग तन्मय होकर सुनें। एक बार एक कालेज के विद्यार्थियों ने यह दुरभिसंधि की कि आज इन्हें बोलने न दिया जाये। नरेन्द्रदेवजी को पता चल गया। फिर भी वे बोलने के लिए खड़े हो गये। कुछ कल-कल भी होने लगा परंतु क्षणभर में उनके स्निग्ध गंभीर घोष में वह विलीन हो गया। सभा में सन्नाटा छा गया। पूरे दो घंटे लोग मंत्रमुग्ध-से होकर उन्हें सुनते रहे।

एक बार मैंने उनसे कहा, “बुद्धि की देवता सरस्वती को भी रहने के लिए आपके सड़े फेफड़े ही मिले थे।” सुनकर वे हंसने लगे। दैव, कहीं वे स्वस्थ होते।

उनके अनुग्रह ने मुझे ढीठ बना दिया था। कितनी बार मैंने प्रार्थना, अनुरोध और क्रोध करके भी उनसे कहा, “आप विश्राम कीजिए। कोई आपसे कुछ पूछे तो व्यवस्था के रूप में अपनी सम्मति दे दीजिए और कह दीजिए—“येनेष्टं तेन गम्यताम्।” परंतु राजनीति से उन्हें राग हो गया था।

यही दशा उनके उत्तराधिकारी श्री गंगाशरणसिंह जी की भी रही। महीने में पच्चीस दिन के दौरे। वे भी श्वासग्रस्त हैं। परंतु उन्होंने उसे एक प्रकार से जीत लिया है। दो वर्ष पहले तक वे प्रतिवर्ष बदरीनाथ की यात्रा करते रहे हैं। जैसे-तैसे उन्होंने दल के सभापति-पद से मुक्ति पाई है। परंतु दौड़-धूप फिर भी बनी रही। एक बार मैंने खीझकर उनसे यह भी कह दिया कि जान पड़ता है आपकी पार्टी में उपयुक्त व्यक्तियों की न्यूनता है तभी तो एक बार जिसे पकड़ पाया, फिर उसे छोड़ने का नाम नहीं। परंतु बात ऐसी न थी। और, अब तो अन्य दल के संयोग से उनका नाम और रूप भी बदल गया है।

नरेन्द्रदेवजी अपनी चिकित्सा के लिए एक बार विदेश भी गये। इससे कुछ अच्छे भी हुए परंतु यहां आने पर विश्राम न कर सके और फिर वही दशा हो गई। देश का दुर्भाग्य।

## श्रद्धांजलि-संस्मरण

एक बार उनका उपचार करने के लिए महात्मा गांधी उन्हें सेवाग्राम ले गये। उन्हीं दिनों वाइसराय से बातचीत चल रही थी। उसके लिए बापू को दिल्ली जाना पड़ा। परंतु नरेन्द्रदेवजी की चिंता के कारण वे वहां से शीघ्र लौट आये। नरेन्द्रदेवजी कहते थे, “वहां के अनुभव अच्छे नहीं रहे। गांधीजी के अधिक से अधिक सामीप्य के लिए वहां ईर्ष्यापूर्ण प्रतिस्पर्धा थी। लोग आ-आकर मुझे एक-दूसरे के दोष सुनाया करते थे। इससे पीड़ा होती थी। परिनिदा कहां तक सुनी जाये।”

राजबंदी के रूप में जब हम लोग आगरे की सेंट्रल जेल में थे तब नरेन्द्रदेवजी भी वहां थे। प्रायः प्रतिदिन तीसरे पहर वे हमारी बैरक में आते और हलकी-फुलकी बातों से जी बहलाया करते थे। वहां भिन्न-भिन्न विचार-धाराओं के लोग थे। परंतु ब्रिटिश शासन का अंत सभी चाहते थे। कुछ तनातनी रहने पर भी साधारणतः मिलजुलकर ही सब लोग समय की प्रतीक्षा करते थे।

एक दिन मैंने आचार्यजी से कहा, “कांग्रेस का आपसे मतैक्य नहीं है और आप लोग भी कांग्रेस के विरोधी हैं। आपमें और उनमें क्या अंतर है?” हंसकर बोले, “बड़ा अंतर है? जैसा एक भले मानुस और गुंडे में होता है।”

जेल में हम लोगों को काम तो करना नहीं पड़ता था, महायुद्ध के समाचार पढ़ना-सुनना, देश की स्थिति पर विचार करना और भिन्न तर्क-वितर्क हुआ करते थे। बात-बात पर गोष्ठियां और सभाएं होती रहती थीं। मुसलमान बंदी बहुत थोड़े ही थे परंतु ईद पर उन्हें सबने बधाइयां और मिठाइयां दीं, सब बैरकों में उनका स्वागत-सत्कार किया गया। सारांश, किसी बहाने सदा एक न एक समारोह होता रहता था।

इसी क्रम में मेरे जन्म-दिन पर भी एक आयोजन हो गया। महेन्द्रजी ने अपने प्रेस से अभिनंदन पत्र छपवाकर मंगा लिया। सभा की अध्यक्षता आचार्यजी ने की। बनारस में भी मेरे संबंध की एक अभिनंदन सभा की अध्यक्षता उन्होंने की थी। मैं उन्हें जेल में नित्य एक डिब्बी में पान के बीड़े भेजा करता था। हम राजबंदियों के परिचारक भी बंदी ही होते थे। जो बंदी

गया था। वे कोठी पर न रुककर गंगातट पर पहुँचे। मैं पानी में था। उन्हें देख ललक कर उनसे कहा, “आओ, तुम भी स्नान कर लो।” उनका सेवक भी धौती, तौलिया और तेल की शीशी लिए उनके साथ था, परंतु उन्होंने मेरा प्रस्ताव स्वीकार नहीं किया। मैंने कहा, “सीधे नहीं आओगे तो मैं पानी उछालकर भिगो दूंगा।” उन्होंने व्यंग्य से कहा, “और क्या करोगे तुम? जितना चाहो, पानी और कीचड़ उछाल लो।” यह कहते-कहते उनका मुँह तमतमा गया और जब तक मैं कुछ कहूँ, अवज्ञापूर्वक मुँह फेरकर वे चल दिये। मैं स्तब्ध रह गया। मुझे भी पीड़ा हुई, परंतु मैं क्या करता।

कृष्णदास ने यह घटना स्वयं देखी अथवा मैंने उन्हें सुनाई थी, मुझे स्मरण नहीं। वे दोनों ओर के समाचार भले चाहने वाले थे। किंतु उस समय इस संबंध में उन्होंने मौन रहना ही उचित समझा। हो सकता है, उन्हें भी मेरे प्रति कुछ संदेह रहा हो।

दूसरे लोगों की बात मैं नहीं जानता, श्री वाचस्पति पाठक इस बिलगाव पर हृदय से व्यथित हुए। मेरा मन भी उस बार काशी में न लगा और मैं वहाँ अधिक न ठहरा।

कुछ दिन पश्चात् मैंने देखा—‘आज’ पत्र में ‘साकेत’ को लेकर अनेक बार टीका-टिप्पणी की गई। मेरे मन में कभी यह बात नहीं आई कि इस व्यंग्य-विद्रूप के प्रेरक प्रसाद जी हो सकते हैं। हाँ, यह हो सकता है कि लेखक ने यह समझा हो कि इससे प्रसाद जी प्रसन्न होंगे।

पाठक जी तब तक काशी से प्रयाग नहीं गये थे और समय-समय पर इस भ्रम के निराकरण की चेष्टा भी वे अवश्य करते रहे होंगे। अंत में उनका प्रयत्न सफल हुआ। मैं फिर काशी गया और पाठक जी के उद्योग से हम दोनों पुनः ‘शांति कुटीर’ में मिले। आवेग से मेरे आँसू आ गये, और धृष्टता क्षमा हो, यह कहते हुए कि तुमने मेरे साथ न्याय नहीं किया, मैंने उन्हें एक थप्पड़ मारी और उनसे लिपट गया। वे मुझे थपथपाते रहे। पाठक जी के अनुग्रह से मैंने इस बार अपने को पहले से भी अधिक प्रसाद जी के निकट अनुभव किया।



लखनऊ में एक बड़ी-सी प्रदर्शनी थी। और भी कुछ आयोजन किये गये थे। हिन्दुस्तानी एकेडेमी की बैठक भी उस बार वहीं हुई थी। एक कवि-सम्मेलन का भी प्रबंध किया गया था। ओरछा के महाराज वीरसिंह देव उसका उद्घाटन कर रहे थे। प्रसाद जी भी लखनऊ आये थे। कवि-सम्मेलन के संयोजक से मैंने कहा, “प्रसाद जी के स्थान पर जाकर आपको उनसे सम्मेलन में आने के लिए आदरपूर्वक आग्रह करना चाहिए।” संयोजक जी ने कहा, “निमंत्रण तो भेज दिया गया।” मैंने कहा, “यह पर्याप्त नहीं। आपको स्वयं वहां जाना चाहिए।” वे जानते थे कि प्रसाद जी के और मेरे बीच एक तनाव हो चुका है। संभव है वह अब भी शेष हो। स्वयं भी वे प्रसाद जी से कुछ अनख मानते थे और अपने आपको किसी से न्यून नहीं समझते थे। परंतु यह तो एक शिष्टाचार की बात थी। उन्होंने कहा, “अच्छी बात है, मैं स्वयं जाता हूं।” वे गये भी, परंतु न जाने कहाँ? प्रसाद जी के स्थान पर नहीं गये। जब मैं सम्मेलन के मंडप के द्वार पर पहुंचा, तब मैंने उनसे फिर पूछा, “आप प्रसाद जी के यहां हो आये?” उन्होंने कहा, “नहीं जा सका, कहाँ-कहाँ जाऊं?” मैं इसके अतिरिक्त और क्या कर सकता था कि कवि-सम्मेलन में सम्मिलित न होऊं। मैंने यही किया। पीछे प्रसाद जी ने ही मुझे बताया कि कवि-सम्मेलन में लोगों ने मेरे और तुम्हारे लिए बड़ा कोलाहल मचाया। तुम क्यों नहीं गये? यही प्रश्न मैं उनसे नहीं कर सका। मैंने क्षुब्ध होकर कहा, “पागल हुए हो।” प्रसाद जी हंस गये और उनकी आंखें चमक उठीं। हम दोनों प्रदर्शनी देखने चले गये। वहां एक महिला लेखिका मिल गई। बोलीं, “कहां घूम रहे हैं? चलिए देखने की वस्तुएं मैं दिखाऊं।” यह कहकर वे एक ऐसी दुकान पर ले गईं जहां स्त्रियों के व्यवहार की अनेक वस्तुएं थीं। हंसकर उन्होंने कहा, “घर जाने के पहले जो लेना हो यहां ले लीजिए।” प्रसाद जी ने वैसी ही हंसी हंसकर कहा, “यहां से तो आप ही ले सकती हैं।”

लखनऊ से मैं उन्हीं के साथ काशी गया। मार्ग में उन्होंने ‘कामायनी’ के कुछ अंश मुझे सुनाये। डिब्बे में वे, उनके एक मित्र और मैं, यही तीन जन थे। उस दिन का आनंद मैं नहीं भूल सकता। उस बार भारतेन्दु-भवन में डा० मोतीचन्द्र के साथ हम लोगों ने मिलकर अंतिम बार भोजन किया।

होकर युधिष्ठिर ने उनसे प्रार्थना की थी कि मुझे भी एक बार गीता का उपदेश देने की कृपा कीजिए ।

प्रसाद जी ने इसी प्रसंग में एक बार कहा था, “कभी-कभी कोई भाव अस्पष्ट रूप में सामने आता है तो उसे भी हम ले लेते हैं। छोड़ते नहीं। संभव है आगे चलकर लोग उसे विकसित करके सुंदर रूप में व्यक्त कर सकें।” मुझे यह देखकर संतोष हुआ था कि ‘कामायनी’ में भी एक सर्ग गीतमय है और उसमें भी सूत कातने की बात कही गई है। ‘साकेत’ में सीता के मुख से कातने-बुनने की बात सुनकर एक समालोचक टीका-टिप्पणी करने से नहीं चूके थे ।

अनुकांत कविता के लिए उन्होंने पहले अरिल्ल छंद चुना था । उस पर मेरा मत भी जानना चाहा था । मैंने कहा—सुकुमार भावों के लिए ही यह छंद मुझे उपयुक्त लगता है । घनाक्षरी सब रसों के उपयुक्त समझ कर उसी के एक भाग को मैंने ले लिया था और उसी में ‘मेघनाद-बध’ का अनुवाद किया था । कहने की आवश्यकता नहीं, बंगला के प्यार छंद की भांति यह भी वर्ण वृत्त है । संस्कृत का अनुष्टुप भी वर्ण वृत्त है । सियारामशरण ने मेरे प्रयुक्त छंद की और भी विभक्त करके नये रूप में उसका प्रयोग किया है । मैं नहीं कह सकता मेरे स्नेह के कारण अथवा उपयुक्तता के कारण प्रसाद जी ने भी उस छंद में कुछ लिखा है ।

प्रसाद जी रवीन्द्रनाथ की बंगला रचनाओं से प्रभावित थे, इस कथन का उन्होंने मुझसे यह कहकर विरोध किया था कि मैं बंगला भाषा जानता ही नहीं हूँ । यह ठीक बात है । एक बार एक बंगला पुस्तक के कुछ अंश उन्होंने मुझसे सुने थे और अपनी समझ के अनुसार मैंने उनका अर्थ भी उन्हें बताया था । बंगला जानना उनके लिए सरल था, परंतु जान पड़ता है उस ओर उन्होंने ध्यान ही नहीं दिया ।

एक बार स्वर्गीय पं० पद्मसिंह शर्मा काशी आये थे । कृष्णदास के शांति कुटीर में एक छोटी-सी गोष्ठी हुई । रत्नाकार जी और प्रसाद जी भी थे । मैंने पंडित जी के आदेश पर ‘साकेत’ का अष्टम सर्ग पढ़कर सुनाया । उसके अंत में उर्मिला-लक्ष्मण के मिलन-संबंधी दो-तीन पद्य हैं । उन्हें सुनकर प्रसाद जी ने

मुझसे कहा था, “तुमने प्रसंग तो बड़ा भाषिक और सुंदर छोड़ा। परंतु उसमें तुम्हारी असमर्थता भी झलकती है। बहुत थोड़े में तुमने उसको समाप्त कर दिया।” मैंने उत्तर में कहा, “तुम्हारी बात ठीक हो सकती है। परंतु मुझे तो ऐसा लगता है कि मैंने फिर उसे छोड़ा और वह फूल की भांति झड़कर बिखरा। यह मेरी असमर्थता है तो इसे स्वीकार करने में मुझे आपत्ति नहीं।” उन्होंने फिर कहा, “अरे, एक आलिंगन भी नहीं ? बत् !”

एक दिन मिलते ही उन्होंने मुझसे कहा, “आज रत्नशंकर से किसी ने पूछा—तुम्हारे पिता ने ‘आंधी’ लिखी है। तुम क्या लिखोगे ? उसने छूटते ही उत्तर मिया ‘अंधड़’।”

मैंने हंसकर कहा, “प्रभु करें ऐसा ही हो।”

“पुत्रादिच्छेत्पराजयम्। आयुष्मान् रत्नशंकर को यह बात स्मरण रखनी चाहिए।”

मेरे लिए यह गौरव की बात है कि उन्होंने मुझे अपनी कुछ अंतरंग बातें भी बता दी थीं। परंतु किसी की गोपनीय बात कहना उसके प्रति विश्वासघात करना है। यहां सत्य की दुहाई मिथ्या है।

केवल एक बार ही उन्हें मेरे विषय में संदेह हुआ था। फलस्वरूप कुछ दिन वे मुझसे खिंचे रहे। एक समीक्षक ने उनके विरुद्ध बहुत कुछ लिखा। लिखने वाले मुझसे संबंधित थे। ऐसी स्थिति में यह स्वाभाविक था कि उस कार्य में उन्हें मेरा हाथ जान पड़ा। इसके लिए मैं उन्हें कैसे दोष दूं। मैंने आलोचक से कहा भी था कि इसका दोष मुझ पर आवेगा। वे बोले, “आप कहिए तो मैं अपना निबंध न छपाऊं परंतु इससे मेरे अंतरात्मा को कष्ट होगा और मैं अपने को कर्तव्यच्युत समझूंगा।” मैंने कहा, “ऐसी बात है तो मैं आपको कैसे रोकूं। मेरा जो होना होगा, होगा।”

इसके कुछ दिन पश्चात् मैं काशी गया। दूसरे दिन प्रसाद जी, कृष्ण-दास की कोठी पर पहुंचे। उस समय मैं कोठी के नीचे ही गंगा-स्नान के लिए

संस्कृत की एक उक्ति है, जिसका अर्थ है, भूखा व्याकरण नहीं खाता और प्यासा काव्य-रस नहीं पीता। यह सर्वथा सत्य है। एक दिन हम लोग सबेरे ही स्वर्गीय केशवप्रसाद मिश्र से मिलने भदेनी चले गये थे। उन दिनों चाय-पानी भी नहीं करते थे। वहां बातों में कुछ विलंब हो गया। लौटते हुए रत्नाकर जी को भी जुहारना था। कवि को श्रोता से बढ़कर और क्या चाहिए। रत्नाकर जी कविता सुनाने लगे तो रंग में आकर अक्षय भंडार ही खोल बैठे। वे जैसा सुंदर लिखते थे वैसा ही पढ़ते भी थे। बहुत समय तक हम लोग रस में मग्न होते रहे। परंतु अंत में भौतिकता हमारी मानसिकता को आक्रांत करने लगी। बाह-बाह करते हुए भी हम आपस में भेद-भरी आंखों से देखने लगे। सहसा प्रसाद जी बोल उठे, “रत्नाकरजी, हमें तो आपका वह कवित्त अच्छा लगता है—

चुप रहो ऊधौ सूधौ पथ मथुरा को गहौ।

बस, अंत में, उसे और सुना दीजिए।” सब लोग हंस पड़े। रत्नाकर जी भी मुस्करा गये। फिर भी उन्होंने वह छंद सुना दिया। मार्ग में हम लोगों ने प्रसाद जी की पीठ ठोकी।

एक दिन हम लोग अजमेरी का गाना सुन रहे थे। उन्होंने एक दादरे की पहली पंक्ति सुनाई—

पी लई राजा तुमारे संग भंगिया।

मधुर कंठ से गाते हुए उन्होंने कहा, “इसका अंतरा नहीं सुना?” कुछ समय उपरांत प्रसाद जी ने कहा, “मुंशी जी, यह अंतरा कैसा होगा—

ना जाने कब सारी सरक गई और दरक गई अंगिया।

सुनकर अजमेरी प्रसन्न हो गये। बाह-बाह करके प्रसाद जी की उन्होंने सराहना की।

## श्रद्धांजलि-संस्मरण

एक बार बातचीत में कालिदास की चर्चा आ गई। कालिदास गुप्त-काल में हुए अथवा ईसा के पूर्व, इस विवाद का समाधान करते हुए उन्होंने कहा, “दो कालिदास मान लेने से यह विवाद मिट सकता है। मैं यही समझता हूँ कि काव्यकार कालिदास चौथी-पांचवीं शती में हुए और नाटककार कालिदास ईसा के पूर्व।” मैंने कहा, “जब तक पक्का प्रमाण न हो तब तक ऐसा कहना कालिदास के महत्त्व को घटाना है।” मैं नहीं जानता, प्रसाद जी का वास्तव में यही मत था अथवा मुझे चिढ़ाने के लिए विनोद में उन्होंने ऐसा कहा था।

उनका ‘आंसू’ काव्य पहले मेरे ही यहां से प्रकाशित हुआ था। उसके किसी प्रयोग पर मैंने कहा, “यह प्राचीन के विरुद्ध है।” क्षण-भर रुक कर वे बोले, “हां, परंतु मुझे यह ठीक लगता है।” उनके कहने में आत्मविश्वास की झलक थी।

मेरी एक दुर्बलता है। यदि कविता अनुप्रासरहित हो तो कोई बात नहीं। परंतु सानुप्रास रचना में अनुप्रास का उचित निर्वाह न होना मुझे खट-कता है। जैसे ‘कामायनी’ के आरंभ में ही—

बैठ शिला की शीतल छाँह  
देख रहा था प्रलय प्रवाह

इस संबंध में प्रसाद जी ने मुझसे कहा था—

“कौन बैठकर इतना धिसे-माँजे। मुझसे यह नहीं होता।”

एक बार उन्होंने मुझे बताया—लोग बार-बार मुझसे मेरी रचनाओं के आशय पूछकर मुझे अस्थिर किया करते हैं। एक ऐसे ही जिज्ञासु से मैंने कह दिया—“जिस मूढ़ में आकर मैंने वह कविता लिखी थी, उसी में मैं जब तक न आ जाऊँ तब तक कैसे समझाऊँ।” हम दोनों हँसने लगे। ऐसी ही बात भगवान श्री कृष्ण ने युधिष्ठिर से कही थी, जब महाभारत के युद्ध के अंत में शोकाकुल

दोपहर का भोजन करके वे अपनी पालकी गाड़ी में बैठकर कृष्णदास के बंगले पर आ जाते और रात तक वहीं रहते। कभी-कभी हम साथ ही नगर में जाते और प्रायः आधी रात तक मैं और कृष्णदास बंगले लौट पाते।

बड़े-बड़ों को एक बार आर्थिक संकट का सामना करना पड़ता है। उस समय लोग बहुधा अपना मानसिक संतुलन खो बैठते हैं। परंतु प्रसादजी ने बड़ी धीरता और बुद्धिमत्ता से अपना काम-काज संभाला। ऋण चुकाने के लिए शीघ्र ही उन्होंने अपना एक गांव बेच दिया। घोड़ागाड़ी भी नहीं रखी। इस विषय की चर्चा में मैंने उनकी बड़ी सराहना की और कहा, “यदि ऐसा न किया जाता तो व्याज में ही सारी संपत्ति स्वाहा हो जाती।” मैं स्वयं भूक्तभोगी था और एक-एक के आठ-आठ तक देने को विवश हुआ था। उनकी दूरदर्शिता सचमुच प्रशंसनीय थी। पूछने पर वे किसी विषय में बहुत अच्छी राय दे सकते थे।

मैं समझता हूं, आर्थिक दृष्टि से प्रसाद जी की और प्रेमचन्द्रजी की एक तुलना की जा सकती है। प्रेमचन्द्रजी अपने जीवनकाल में प्रसादजी की अपेक्षा अधिक अभावग्रस्त रहे। परंतु इन दोनों बड़े साहित्यकारों के साहित्य का लाभ इन्हें नहीं, इनके भाग्यशाली पुत्रों को ही मिला। कृष्णदास ने ठीक ही कहा था, प्रसादजी की कृतियां आज की नहीं, आगामी कल की हैं।

प्रसादजी के साथ न जाने कहां-कहां की बातें हुआ करतीं। परंतु अपनी-अपनी रचनाओं के विषय में कभी भूले-भटके ही हम लोग चर्चा करते। हां, कभी-कभी वे अपनी रचनाओं की पांडुलिपियां अवश्य मुझे दे जाते थे और मुझे इस बात का गर्व है कि छपने के पहले ही मैंने उनका रसास्वाद पा लिया था।

उनकी दुकान दाल की मंडी में है। संध्या को प्रसाद जी वहां जाते और दुकान के सामने एक दासे पर बैठा करते। उनके मित्र और मिलने वाले भी वहां पहुंच जाते और छोटी-मोटी गोष्ठी हो जाती। वहां के आसपास के लोग भी उनका बहुत सम्मान करते थे। प्रसाद जी कोरे कवि ही न थे। कुशल

व्यवहार-बुद्धि भी रखते थे। गोष्ठी में भिन्न-भिन्न चर्चाएं होती थीं। कभी-कभी वाद-विवाद भी हो जाता था। परंतु अकिधतर अट्टहास ही गूँजा करता। बीच-बीच में ऊपर रहने वाली वेश्याएं भी चौंककर नीचे झांका करतीं।

एक बार निराला जी और नवीन जी के काशी आने पर उन्होंने कुछ लोगों को ब्यालू के लिए घर बुलाया। स्वर्गीय मुंशी अजमेरी भी मेरे साथ थे। हम लोग संध्या को ही जा जमे। निराला जी सुंदर गायक भी हैं। अजमेरी का कहना ही क्या। बालकृष्ण जी का भी कंठ मधुर है। कविता और गान दोनों से वातावरण गूँज उठा। निराला जी से भी कोई हिंदी या बंगला गीत गाने को कहा गया तो उन्होंने कहा, “मैं क्या गाऊं। मृदंग न सही, तबला बजाने वाला भी तो कोई हो।” साज बजाने वाला कोई साहित्यिक वहां न था। प्रसाद जी चाहते तो तुरंत किसी को बुला सकते थे परंतु वे मुस्कराकर रह गये। नवीन जी ने भूकुटी-भंग किया। मैंने समझा कि निराला जी के मन में उमंग नहीं है। नहीं तो—

मन में आई हुलक  
का खंजरी का हुलक।

एक दो बार फिर निराला जी से कहा गया, “ऐसे ही होने दीजिए।” परंतु वे गुरु गंभीर बनकर अपनी पहली ही बात दुहराते रहे। नवीन जी से न रहा गया, सहसा बोल उठे, “बड़े गवैये बने हैं। अजमेरी जी बिना तबले के गा सकते हैं, तुम नहीं गा सकते तो...”

क्षण-भर सन्नाटा छा गया। निराला जी पहले हंसे, फिर तुरंत उन्होंने गाना आरंभ कर दिया।

भिन्न-भिन्न प्रकार के आठ-काठ इकट्ठे करके कभी-कभी कुटिल हंसी हंसते हुए प्रसाद जी आनंद उठाते रहते थे। बात बढ़ जाती तब अपनी कुशलता से वे सबको शांत भी कर दिया करते थे।

प्रसाद जी के व्यायाम, आहार-विहार और पौष्टिक की बातें सुनकर सच-मुच कौतूहल होता था। मनों बादाम खाने से सुना है, उन्हें अंत में भयानक प्रतिक्रिया का सामना करना पड़ा। बादामों का विष धीरे-धीरे उनके शरीर में व्याप्त होता रहा और अंत में घातक रोग के रूप में प्रकट हुआ। अनेक प्रकार की चिकित्सा हुई। पीछे उन्होंने होमियोपैथिक चिकित्सा का आश्रय लिया। चिकित्सक श्री राजेन्द्रनारायण शर्मा उनके मित्र थे। उनकी चिकित्सा पर उन्हें विश्वास भी था। अन्य डाक्टरों की राय थी कि उन्हें पहाड़ पर जाना चाहिए। मैं यह नहीं मानता कि अर्थाभाव उसमें बाधक हुआ। यही जान पड़ता है, वे जीवन से निराश हो गये थे और अंत में काशी नहीं छोड़ना चाहते थे। उनके शरीर की दशा देखकर मैं अपने आंसू न रोक सका। उन्हीं दिनों राजर्षि टंडन काशी आये। मुझे साथ लेकर वे प्रसाद जी को देखने गये। प्रसाद जी खाट से लग गये थे और अस्थि-चर्म ही उनमें शेष रह गये थे। ऐसा लगता था मानो शैया पर एक चादर ही पड़ी है और कुछ नहीं। फिर भी उनके मुंह पर एक निश्चित दृढ़ता दिखाई देती थी। मुस्कराकर ही उन्होंने अभिवादन के लिए हाथ जोड़े। मुझे पता था कि इस बार का मंगलाप्रसाद पुरस्कार उन्हें दिया जायेगा। जब हम लोग उनके कक्ष से बाहर निकले तब मैंने टण्डन जी से कहा, “आप कहे तो मैं यह बात उनसे कह आऊँ। संभव है, इससे उन्हें कुछ संतोष हो।” टण्डन जी ने अनुमति दे दी और मैं फिर उनके कक्ष में गया। प्रश्नसूचक दृष्टि से उन्होंने मेरी ओर देखा। मैंने कहा, “इस बार का मंगलाप्रसाद पुरस्कार तुम्हें देने का निश्चय हुआ है। तुम शीघ्र स्वस्थ हो जाओ। मैं भी उसे लेने के समय तुम्हारे साथ चलूँगा।” उन्होंने उत्तर में कुछ न कहकर दोनों हाथों से मुझे पकड़ लिया। मैंने देखा, उनकी आंखें छलछला आई हैं और वे गद्गद हो रहे हैं।

इसके पश्चात् ? मुझे अपनी पहली बात ही फिर कहनी पड़ती है—

जय शंकर कहते कहते ही।

अब भी काशी जावेंगे।

किंतु प्रसाद न विश्वनाथ का

मूर्तिमंत हम पावेंगे।



## श्रद्धांजलि-संस्मरण

तात, भस्म भी तेरे तनु की  
हिंदी की विभूति होगी ।  
पर हम जो हँसते जाते थे  
रोते रोते आवेंगे ।

श्रीराम  
बालकृष्ण शर्मा 'नवीन'

बालकृष्ण भी चले गए । इधर उनका कष्ट देखकर उनके चले जाने की ही कामना करनी पड़ती थी । न तो उनका कष्ट देखा जाता था, न उन्हें बिना देखे रहा जाता था ।

चालीस वर्ष से अधिक का उनसे मेरा संबंध था । हम दोनों प्रत्येक परिवार के थे । निकटता के कारण वे उसके अविभाज्य अंग बन गए थे ।

वात यह है । गणेशशंकर में जैसे अपना लेने की सहज शक्ति थी, वैसे बालकृष्ण में अपने हो जाने की । आत्मीयता दोनों का नैसर्गिक गुण था । एक में स्वीकरण की क्षमता थी, दूसरे में समर्पण की ममता । यह ममता अपने आप में सुलभ नहीं होती, परंतु उनमें दुर्लभ न रह गई थी ।

क्या कहना है उनके व्यक्तित्व का । क्या रूप, क्या वर्ण और क्या बोल-चाल, उनका सब कुछ आकर्षक था । जैसा विनय वैसा ही अभय । जब जिस वेश में वे रहते थे वही उन्हें फबता था ।

केवल अपने गुणों के कारण उन्होंने अपनी सामाजिक स्थिति इतनी ऊंची बना ली थी कि देश के बड़े से बड़े नेताओं का संपर्क उन्हें प्राप्त हो गया था ।

उनकी मृत्यु पर उनके जवाहर भाई ने कहा था—“वे हमारे छोटे भाई थे। और उनमें बड़ा जोश था। निस्संदेह भावुक प्रकृति के होने से वे यदा-कदा आवेश में आ जाते थे और उस समय उनसे भी भगड़ पड़ते थे जिन पर अपने प्राण तक न्यौछावर कर सकते थे।”

एक बार वे सदन में कुछ ऐसी बातें कह गये जिनसे पक्ष का अनुशासन भंग हुआ समझा गया। दल की बैठक में जब इस पर विचार हुआ तब उन्होंने जो कुछ कहा था उसे खुले कंठ से स्वीकार किया और उचित दंड शिरोधार्य करने की स्वीकृति लिखित रूप में दे दी। एक सदस्य ने कहा, “उन्हें क्या दंड दिया जाये।” किसी दूसरे ने कहा, “दंड न देने से अनुशासन कैसे रहेगा?” एक तीसरे सदस्य उन महाशय से बोले, “आप कल के लोग हैं। जानते हैं, यह बालकृष्ण शर्मा हैं जो जीवन भर हमारे लिए जूझता रहा है। ऐसे निष्ठावान कितने सैनिक हैं हमारी महासभा के? कोई एकाध ऐसी बात हो गई तो क्या क्षमा नहीं की जा सकती। उससे भूल हो सकती है, किंतु उसके हृदय की शुद्धि में कौन संदेह कर सकता है?” अंत में निर्णय का भार पंडित जी पर छोड़ दिया गया, जिन्होंने कहा था, “बालकृष्ण को दंड देना ऐसा लगता है जैसे अपने आप को दंड देना।” उन्हें चेतावनी भर दे दी गई।

एक बार कानपुर में किसी हड़ताल के समय पुलिस ने गोली चला दी जो उन दिनों साधारण बात थी। ‘प्रताप’ का संपादन बालकृष्ण के हाथ में था। उन्होंने क्षुब्ध होकर ऐसा संपादकीय लिखा कि सब लोग शंकित हो उठे। क्या होगा और क्या न हो जायेगा ऐसी स्थिति सामने थी। परंतु बालकृष्ण से कुछ कहने का साहस किसी को न हुआ। गणेशजी थे नहीं। बालकृष्ण भी लेख देकर कहीं चले गये थे। संयोग से तभी मैं कानपुर पहुंचा। अभी मेरा सामान भी न उतर पाया था कि प्रेस के प्रबंधक ने मुझे प्रूफ देकर कहा, “पहले इसे पढ़ लीजिए, अभी छपना है।” स्थिति प्रूफ ने ही बता दी। मैंने दो-तीन जाने-समझे ठिकानों पर बालकृष्ण की खोज कराई। परंतु वे न जाने कहां थे। अगत्या मैंने अपनी बुद्धि से लेख में कुछ फेर-फार और काट छांट-कर दी। लोग मेरी ओर देखने लगे। उनका भाव समझ कर मैंने कहा, “लेख छापिए, दायित्व मैं लेता हूं।” मेरा सौभाग्य ही था कि दूसरे दिन जब बालकृष्ण से मेरी भेंट हुई तब मुझे

उनकी गालियां नहीं प्रेम-भरी मुस्कान ही मिली । मैंने समझ लिया मुझे क्षमा मिल गई ।

आठ वर्ष हो गये, दिल्ली जाने पर प्रायः नित्य उनके सत्संग का लाभ मुझे मिलता रहा । संध्या समय आकर दो-तीन घंटे वे मेरे पास रहते और अनेक झंझटों से मेरी रक्षा करते ।

संवत् २०१४ में उनके जन्म-दिन पर मैंने उन्हें यह दोहा लिखकर दिया था—

भला तुम्हारा प्रेम-मधु हो जितना प्राचीन,  
रहो क्षेम से तुम सदा निज में नित्य नवीन ।

नहीं जानता, इससे उनका मन मीठा हुआ वा नहीं, उन्हीं के शब्दों में 'मुंह मीठा' करने के लिए उन्होंने मेरे पाकेट से मनीबैग निकालकर उसमें से पांच रुपये ले लिये । फिर यह उनका बंधान-सा हो गया ।

परमाणु समान पर-गुण को पर्वत प्रमाण मानकर उत्साह प्रदान करने की जैसी उदारता उनमें थी, वैसी अन्यत्र दुर्लभ है । इसी प्रकार तनिक भी अभिनय किंवा अनौचित्य वे नहीं सह सकते थे ।

एक दिन हम दोनों संध्या समय संसद के सदस्यों की बस्ती नार्थ एवेन्यू में टहल रहे थे । सहसा एक ओर से एक बच्चे का चीत्कार सुनाई दिया, जिसे अपने पिता अथवा अविभावक का कोप-भाजन बनना पड़ा था । बालकृष्ण पिटने वाले-बच्चे का कण्ठ क्रंदन सुनकर पीटने वाले को बरजते हुए गरज उठे और उस ओर झपटे । मैं हतप्रभ-सा हों गया और उनके साथ सीढ़ियां चढ़कर ऊपर पहुंचा । उनका उग्र रूप देखकर ताड़क ही नहीं ताड़ित भी सहम गया । वह दृश्य देखकर मुझे अपनी एक अप्रकाशित रचना सांत्वना की दो पंक्तियां स्मरण आ गई—

बच्चों के माँ-बाप कभी यदि उनको मारें,  
तो भी बच्चे उन्हें छोड़कर किसे पुकारें ।

एक दिन एक मान्य महज्जन के जन्म-दिन के उपलक्ष्य में एक कवि महा-शय कुछ पद्य लिखकर लाये और मुझे सुनाने लगे । वह रचना मुझे न उनके योग्य लगी और न उन्हीं के जिनके लिए वह लिखी गई थी । फिर भी मुझे कहते हुए संकोच हुआ । एक पद्य के लिए अवश्य कह दिया—इसे न पढ़ा जाये तो अच्छा । उन्होंने हाँ तो कह दिया परंतु ऊपरी मन से । मैं सोचने लगा लेखक को अपनी रचना का कैसा मोह होता है । तब तक बालकृष्ण आ गये । कवि महाशय ने मुझसे कहा, नवीनजी को सुना दूँ और वह पद्य भी । मैंने कहा, जैसी आपकी इच्छा । नवीनजी कविता सुनने के पहले ही प्रशंसा करने लगे । अरे इनका क्या कहना, ये तो सभा-सम्मोहन हैं । परंतु ज्यों ही कवि महाशय अपनी रचना पढ़ने लगे, नवीनजी का भाव-परिवर्तन होने लगा । उस पद्य के सुनते ही वे कठोर होकर बोल उठे, “कुछ नहीं, कुछ नहीं, दो कौड़ी की । इसे फाड़ फेंको । इसे सभा में मत पढ़ना ।”

उनके स्वर की कठोरता स्वाभाविक न थी । कालिदास ने कहा है—

उष्णत्वमग्न्यातप संप्रयोगाच्छैत्यं हि यत्सा प्रकृतिर्जलस्य ।

बहुत ही मधुर कंठ था उनका । नियमित रूप से उन्होंने गाना नहीं सीखा था । वह उन्हें जन्मजात ही प्राप्त हुआ था । उनके माता-पिता वैष्णव थे । वे भले ही कभी बहिःशाक्त दिखाई पड़े, उनका अंतःकरण वैष्णव ही था । जो पद वे गाते थे उन्होंने प्रायः अपनी माता से ही सीखे थे ।

जरि जाहु री लाज, ऐसे मेरे कौन काज,  
आये कमल नयन नीके देखन न दीन्हें ।

—जैसे पद गाकर वे स्वयं ही भाव-विह्वल नहीं हो उठते थे, श्रोताओं को भी विभोर कर देते थे। मेरे 'द्वापर' की यशोदा की भांति उनकी माता भी अपने बालकृष्ण के लिए कह सकती थीं —

गायक बन बैठा वह मुझसे रोता कंठ मिलाके,  
उसे सुलाती थी हाथों पर जब मैं हिला हिला के।

रोग ने उनकी वाणी रुद्ध कर दी थी। डाक्टरों ने कहा था, धीरे-धीरे बोलने का प्रयत्न करना चाहिए। मैंने कहा, तुम कुछ गुनगुनाया करो। उन्होंने यह स्वीकार तो किया परंतु स्वर की विकृति के कारण संकोच करके वे विरत हो गये। दो वर्ष पहले आकाशवाणी के होलिकोत्सव पर हम दोनों साथ ही गये थे। वहां जब ब्रज की मंडली ने गाना आरंभ किया तब भावावेग में आकर उन्होंने सहसा एक टीप लगा दी। मैं विस्मित होकर उन्हें देखने लगा। वे थोड़े मुसकाये और सकुचाकर चुप हो गये। मेरे भी आंसू आ गये और उनके भी।

अपने रोग के दूसरे आक्रमण के पश्चात् वे खाने-पीने में यथेष्ट संयम बरतने लगे थे। दूसरों को भी रोकने-टोकने लगे थे। दिनकर को बीच-बीच में दुष्टता सूझती थी। कुछ और लेने का मेरा आग्रह सुनकर चाहे कुछ न खाया हो हमारा कवि-शार्दूल कहता और कितना खाऊंगा। बालकृष्ण मुझसे कहते, क्या करते हो ! मैं कहता, तुम इनकी धूर्तता नहीं समझते। मुझे तुमसे बकवाना चाहते हैं। परंतु बालकृष्ण नहीं-नहीं ही कहते रहते वह रीझ-खीझ अब समाप्त हो गई।

लेखनी के ही नहीं वे वाणी के भी धनी थे। मुझे आश्चर्य होता था। कारण दो वाक्य बोलने में भी मुझे कंपकंपी छूटती है।

उस बार प्रांतीय राजनीतिक सम्मेलन का अधिवेशन काशी में हुआ था। वे सभापति थे। जवाहरलालजी ने उसका उद्घाटन किया था। बड़ी भीड़ थी। पंडितजी बोलने लगे तो डेढ़ घंटे तक बोलते रहे। ऊंस होने पर भी लोग जमे रहे। परंतु जैसे ही पंडितजी ने अपना भाषण समाप्त किया वे कसमसाकर

## श्रद्धांजलि-संस्मरण

उठने लगे, जान पड़ा सभा समाप्त हो गई। बालकृष्ण ने तुरंत उठकर कहा, „जवाहर भाई सब कुछ कह चुके हैं। मेरा भाषण भी मुद्रित हो ही। बस दो-चार बातें कहकर मैं समाप्त कर रहा हूँ।” लोग दो-चार बातों के लिए क्या हटते। परंतु तनिक में ही फिर डट गये और बालकृष्ण की दो-चार बातों में कब घंटे भर से अधिक समय बीत गया, जान ही न पड़ा। मैंने बढ़कर उन्हें अंक में भर लिया।

उनके बिना, विशेषकर संसद में, हिंदी ‘निरालम्बा सरस्वती’ हो गई है।

मैं सोचता था कि बालकृष्ण मेरी निधन सभा में मुझे अच्छी श्रद्धांजलि प्रदान करेंगे। परंतु प्रभु चेती के आगे नर चेती नहीं होती—

कहाँ गया वह बंधु हमारा  
नित नवीन जिसकी रस धारा  
आलोड़ित करती थी हमको।  
उससे श्रद्धांजलि की आशा  
रखती थी मेरी अभिलाषा  
अनहोनी ही प्रिय है यम को।

श्रीराम

## अजमेरी और जायसवाल

सन् १९११ में हम लोग मसूरी में थे। वहां राय कृष्णदास जी के साथ उन्हीं की कोठी में ठहरे थे। मुंशी अजमेरी भी मेरे साथ थे। वह कोठी ऊंचे पर वाटर वर्क्स के समीप थी। एकांत और शांत-कांत। परंतु ऊंचाई के कारण कुली लोग उसे चंडाल गढ़ी कहने लगे थे। उस गढ़ी में रहने वाले उसके स्वामी तो सरकार ही कहलाते थे—सामने, पीछे की राम जानें।

उन्हीं दिनों हम लोगों के मित्र श्री एस० पी० शाह, आई० सी० एस० भी अपनी धर्मपत्नी के सहित वहां आ गये और एक दिन अचानक श्री काशीप्रसाद जायसवाल, बार एट ला भी आ पहुंचे। वातावरण विशेष रूप से मुखरित हो उठा।

एक दिन वार्तालाप में शाह ने जायसवाल के किसी शब्द पर कहा, “यह शब्द ऐसा नहीं, ऐसा होना चाहिए।”

“क्यों होना चाहिए?” जायसवाल ने पूछा।

शाह अधीत पुरुष थे। बोले—



“ग्रियर्सन के मत से ।”

“अजी, हम उस ग्रियर्सनवा को प्रमाण मानें अथवा हमारी मां-बहनें जो नित्य बोला करती हैं, उसे मानें ।” जायसवाल ने अपनी मिर्जापुरी लटक में उत्तर दिया ।

“इस पर मैं क्या कह सकता हूँ ।” यह कहकर शाह चुप हो गये ।

मैंने जायसवाल जी से कहा, “आप भारतवर्ष पर एक ग्रंथ लिख दीजिए जो मूलतः हिंदी में हो और अंग्रेजी आदि अन्य भाषाओं में अनुवादित ।” उन्होंने कहा, “इस विषय पर तो मैं ऋषियों की भांति बोल सकता हूँ । अभी आरंभ किया जाये—शुभस्य शीघ्रम् ।” परंतु वह आरंभ ही रहा । जैसे अचानक वे आये थे वैसे ही अचानक उन्हें चला जाना पड़ा । वे रहते भी तो क्या लिखाते, नहीं कहा जा सकता । इस संबंध में अजमेरी ने मेरे अग्रज को अपने पत्र में लिखा था—

“काशी प्रसाद को इतिहास तो हो चुकौं । वो तों मैं हाजिर हूँ ही तबई सना हों । संछेप में जा बात है के लरका सोने कौ दिया कैहै न हुंह (काशी प्रसाद का इतिहास तो हो चुका । वह तो जब मैं हाजिर हूंगा तब सुनाऊंगा । संक्षेप में यह बात है कि लड़का न सोने का दिया कहेगा न होगा ।) अजमेरी मेरे अग्रज को प्रायः अपनी बोली (बुंदेखंडी) में ही पत्र लिखा करते थे ।

जायसवाल जी अजमेरी की ओर बहुत आकर्षित हुए थे । घंटों बैठकर उनकी बातें सुना करते थे और उन्हीं को साथ लेकर थोड़ा बहुत टहल लेते थे । कभी-कभी उन्हें पटने भी बुलाया करते थे । एक बार उन्होंने लिखा था—

अजमेरी, मेरी सुनो, बसे बहुत चिरगाँव,  
जन्मभूमि उस ठाँव तो हरिमंदर इस ठाँव ।

पटने में सिक्खों का जो गुरुद्वारा है वह हरिमंदिर कहलाता है । गुरुगोविन्द सिंह का जन्म वहीं हुआ था ।

एक बार जायसवाल जी चिरगांव भी अचानक ही आ गये थे । उन दिनों राजनीति के आंदोलन में लोगों की पकड़-धकड़ चल रही थी । गांव में प्रवेश करते ही मोटर रोककर उन्होंने मेरे यहां का मार्ग पूछा और मेरी उपस्थिति जानकर कहा, “उससे कहो कि पुलिस सुपरिंटेंडेंट आये हैं ।” यह सुनते ही एक सनसनी फैल गई और कुछ लोगों ने दौड़कर मुझे समाचार दिया तब तक जायसवाल जी की मोटर भी आ गई । फाटक में घुसकर उन्होंने मोटर रोकी और पुकारा, “यहां मैथिलीशरण हैं ?” परिचित कंठ सुनकर मैं हंस पड़ा—यह कहते हुए कि पुलिस आई है तो मेरा बैरिस्टर भी आ गया है ।

हंसते हुए हम लोग प्रेम से मिले-भेंटे । उन्होंने पूछा, “नारायण नाम का लेने वाला हमारा अजामिल (अजमेरी) तो है न ?” मैंने नौकर से अजमेरी को बुला लाने के लिए कहा । वे बोले नहीं, पहले हमीं उनके यहां जायेंगे और उन्हें ले आयेंगे ।

परंतु मैं मसूरी की बात कह रहा था, एक बार तुलसीदास की चर्चा चल रही थी । उन्होंने कहा, “अजी, तुलसीदास की कविता तो वह बंदरबा (हनुमान) न सुधारा करता था, जैसे चिरगांव की कविता आजकल का बंदरबा (पूज्य पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी) सुधारा करता है । मिलाओ हाथ ।” वे मेरी ओर देखकर हंसे । मैंने भी हंसकर कहा—

“आपकी कविता यथार्थ है मैं मानता हूँ ।”

एक दिन न जाने किस प्रसंग में वे ब्राह्मणों पर बरस पड़ । कहने लगे कि यह जाति ऐसी है कि इसमें ईश्वर का कोई अवतार नहीं हुआ । अजमेरी ने पूछा, “परशुराम कौन थे ?” जायसवाल बोले, “परशुराम को अवतार नहीं माना जा सकता । एक काल में एक ही अवतार होना कठिन है । दो का होना कैसे संभव है । फिर एक अवतार से दूसरे अवतार का पराभव ? परशुराम अवतार नहीं ।”

## श्रद्धांजलि-संस्मरण

अजमेरी ने फिर कहा, “अच्छा, वामन ?” इस बार जायसवाल कुछ रुके फिर बोले, “आपने ठीक कहाँ ।”

विश्वासघात महापाप, यह किस जाति में संभव है, जब उसने (ईश्वर ने) सब ओर दृष्टि दौड़ाई तब उसे इसके लिए यही जाति मिली । मिलाओ हाथ ।

जायसवाल को किसी प्रसंग में अजमेरी ने एक छोटी-सी कहानी सुनाई थी वह उन्हें बहुत रुची थी । आप भी सुन लीजिए ।

एक कुएं पर बैठा कोई ब्राह्मण संध्या कर रहा था । इतने में वहां एक चरवाहा आया । उसने देखकर पूछा—

‘अरे, तूने अपनी नाक क्यों पकड़ रखी है ? क्या वह दुखती है ?’

‘कैसा मूर्ख है । अरे, नाक पकड़ने से भगवान जो मिलते हैं ।’

‘तो ले, यह पकड़ी नाक । कहाँ हैं भगवान ?’

‘नाक पकड़कर कुएं में कूदने से मिलेगा ।’

‘तो ले, यह कूदा कुएं में ।’

जैसे ही वह कुएं में कूदा । ब्राह्मण वहां से भागा कि अब कुएं से निकल कर वह मारेगा, परंतु चरवाहा तैरना नहीं जानता था । उसके सरल और निश्छल विश्वास से आकर्षित होकर भगवान ने उसका उद्धार किया । उसने पूछा—‘तुम कौन हो ?’

‘मैं वही हूँ जिसके लिए तू कुएं में कूदा था ।’

‘और वह वामन कहाँ है ?’

‘वह तो उधर की ओर भाग गया है ।’

‘तो ठहरो, मैं उसे लिवाये लाता हूँ ।’

‘परंतु उसे तो मैं दर्शन नहीं दूंगा ।’

‘तो तुम झूठे हो। जब वह कहेगा तभी मैं मानूंगा।’

‘तुझे उसके कहने-न कहने की क्या आवश्यकता ? जो चाहिए सो मांग ले, मैं तुझे दूंगा।’

‘मुझे कुछ नहीं चाहिए। मैं क्या भिखारी हूं। परिश्रम करके कमाने वाले का बल मुझमें है। मैं बामन से यह पूछना चाहता हूं कि तुम सच्चे भगवान हो कि झूठे।’

‘अच्छा, जा, बुला ला उसे।’

‘मैं उधर गया और इधर तुम भाग गये तो मैं क्या करूंगा ?’

‘तब ?’

‘मैं तुम्हें इस पेड़ से बांधकर जाऊंगा।’

‘यह नहीं हो सकता।’

‘तो जाओ, तुम सच्चे भगवान नहीं हो। जब सच्चे भगवान मिलेंगे तभी मानूंगा, यह कहकर उसने नाक पकड़ी और कूदने के लिए कुएं की ओर चला।

‘क्या विपद है। ले भाई, तू नहीं मानता तो जैसे तेरी इच्छा हो वैसा ही कर।’

उसने भगवान के हाथ पीछे की ओर कसकर उन्हें पेड़ से बांधकर दौड़ लगाई। ब्राह्मण पीछे फिरकर देखता जाता था। उसे देखकर डर के मारे वह और भी वेग से भागा। परंतु उसके सामने कहां तक भाग सकता था। चरवाहे ने उसे जा पकड़ा और कहा—

‘कहां जाता है ? वहां तो भगवान् आ गये हैं।’

‘कैसे भगवान ?’

‘ऐसे ही जैसे हम तुम हैं । सांवले, पीली-पीली धोती पहने हैं । इतना ही अंतर है कि हमारे दो हाथ हैं और उनके चार ।’

ब्राह्मण विस्मित हुआ और उसके साथ लौटा । चरवाहे के कारण उसे भी भगवान के दर्शन हो गये ।

जायसवाल यह कहानी सुनकर पुलक उठे और बोले, “इसे पद्य-बद्ध करना और नाम रखना ‘बंधुआ’ ।”

